[illegible]

विरुद्ध

उस बड़ी-सी कुर्सी में उसका तकरीबन पूरा ही धड़ समा गया था। एक बार उसने घुघले-से उठकर बैठ जाने की सोची भी, फिर वैसे ही पड़ी रही। पुरानी कुर्सी की वह विराट झिलंगी गोद एक निष्क्रिय बना देने वाली खुमारी से भरपूर थी। वह बात और थी कि वह तकरीबन पूरी की पूरी ही उसमें समाई जा रही थी। वह अलस लेटी रही, सिर्फ गर्दन-भर मोड़ ली।

शाम की नारंगी-शिथिल छाई में उदय का आधा सिर सुनहरा-रुपहला होकर चमक रहा था। उसे पुराने सिक्कों पर बने ऐतिहासिक चेहरों का ख्याल आया। चौड़ा, कुछ-कुछ उभरा हुआ-सा माथा, लम्बी-शाही नाक, पुतलीहीन आंखों और उभरी ठोढ़ी का गर्वीला पथरायापन। उदय ने आखिरी कागज़ के हाशिये पर कुछ लिखकर पूरी ढेरी एक ओर को सरका दी।

"क्या सोच रही हो?"

वह चुप रही। हालांकि उसे मालूम था कि वह एक बार सवाल पूछने लगे तो जवाब दिए बिना निस्तार नहीं। यूं उसकी यह चुप्पी विद्रोह प्रकट करने का एक काफी लचर और नाकारगर और आलसी तरीका था—हमेशा की तरह।

"क्या सोच रही हो ?"

उदय हथेली पर मुंह टिकाए अभी भी उसीकी ओर तक रहा था। उसने अपनी आवाज़ भरसक संयत रखने की कोशिश की।

"कुछ नहीं।"

"कुछ तो होगा ही।"

वह लस्त, गुड़ी-मुड़ी वैसी ही कुर्सी के बीच पड़ी रही जैसे कि प्रश्न उससे नहीं किसी और से पूछा गया हो। एक बार मन में आया कि कह दे तुम्हारे बारे में ही सोच···पर फिर वह जानना चाहेगा कि उसके बारे में क्या और अन्ततः वह या तो उसकी बात आधी ही सुनकर उकताया-सा उठ खड़ा होगा या फिर उसके सोचने को लेकर कोई चालू फिकरा···

उफ् ! उसे लगने लगा कि जैसे दिन-भर मंडराती लू अभी तक उसकी कनपटियों से टकरा रही है। एक क्षण को उसकी सारी पेशियां चेतना-तंतु बनकर एक चमकीले बिन्दु पर टिक गईं, फिर एक बिल्ली की-सी खूंखार तेज़ी से वह कुर्सी की विराट् गोद से छूट निकली।

"चलो कहीं बाहर घूम आएं।"

उदय हल्की-सी सीटी बजाता हुआ कागज़ समेट रहा था, रुक गया।

"तुम हर काम ऐसे झटके के साथ क्यों करती हो, ऐं ? रात को पुकारो तो कूदकर खड़ी हो जाओगी, कुर्सी पर बैठोगी तो खटाक् से, उठोगी तो···हर वक्त तुम इतनी तन्नाई हुई क्यों रहती हो ? यहां हम लोग छुट्टी बिताने आए हैं, कोई प्रतियोगिता जीतने नहीं, समझीं।"

"हटाओ भी···" रजनी फिर अनमनी हो गई। इस वक्त अपने बारे में बात करना उसे काफी फूहड़पन महसूस हुआ जैसे कि अपनी ओर ध्यान खींचने को ही वह यह सब ड्रामाई हरकतें करती रही हो···वैसे क्या पता, हो ही शायद। अनजाने में नहीं ? वह भीतर को मुड़ गई।

"लो, उदय ने फड़फड़ाते कागज़ों को अटैची की चौकोर वाली व्यवस्था में फैलाकर रख दिया था।

"गाड़ी निकलवा लूं ?"

भीतर जाती-जाती वह रुक गई।

"ड्राइवर को साथ लेकर नहीं चलेंगे।"

"क्यों?" उदय के प्रश्न में गुस्से की हल्की-सी टकोर थी।

"बस यूं ही, इतना तामझाम हरदम साथ लिए चलना तुम्हें अजीब नहीं लगता क्या?"

उदय के होंठों के कोने कुछ सिकुड़ने लगे थे। उसकी उतावली इंद्रियों ने लकड़ी की चिरायध की तरह झगड़े की गंध आसपास भरती महसूस की। उफ्! उसने कातर होकर सोचा, वही सब फिर से नहीं...

"देखो रजनी, बचपना मत करो। तुम्हें पता है कि यह गाड़ी कितनी सटारा है, अपनी होती तो और बात थी। यह उजाड़ इलाका है, कहीं बीच में ही बन्द हो गई तो धक्का लगाने को भी कहीं कोई नहीं जुटेगा।"

"तब फिर मत चलो," वह भुन्नाकर भीतर मुड़ गई।

तीखे गुस्से के बावजूद उसे पूरा अहसास था कि हमेशा की तरह इस बार भी उदय की बात सही थी। तो फिर उसका आक्रोश था किस-पर? उदय की बात के अवश्यंभावी सहीपने पर? या उसकी उस बेलाग तार्किकता पर? जो उसकी अनुभवहीन बहसों को पिच्च से दबाकर एकदम बुद्धू बना देती है, उसीकी आखों के सामने।

कभी-कभी तो उसे लगता है कि हर वक्त उसके पूरे वजूद के भीतर एक खूंखार नामहीन आक्रोश पिंजड़े में बन्द कद्दावर चीते की तरह चहलकदमी करता रहता है, किसी भी साधारण-से वाक्य या हरकत को लेकर उछल पड़ने को आतुर और चौकन्ना।...पर आखिर यह सारा आक्रोश-भरा आवेग है किसके विरुद्ध? उदय के? अपने? या खुद उन दोनों से परे किसी अलक्षित ताकत के प्रति, जो कि इन मुठभेड़ों के प्रति उसकी सारी वितृष्णा के बावजूद हर रोज दोनों को प्रतिद्वंद्वियों की तरह परस्पर चुनौती देने को आमने-सामने ला खड़ा करती है। सबसे ज्यादा जो बात सालती है वह यह है कि इन मौकों पर उसके भीतर का आक्रोश जितना ही भभकता है, उतना ही कुछ और डर से आर्त्त हो सिमटता चला जाता

है। इतना, कि कभी-कभी उसे लगता है कि उसका पूरा अस्तित्व ही दो खण्डों में बंट गया है : एक प्रचण्ड विद्रोह से कांपता हुआ विस्फोट को आतुर, और दूसरा डर और ग्लानि से सिमटा, आर्द्र। कहां कोई इससे नजात पा सकता है भला ? शहर में रहो या जंगल में।

वह यूं ही मेज पर रखी किताबें फिर उठाने-रखने लगी। बेकार इतनी किताबें इस गर्मी में यहां ढो लाई। पढ़ने का तो दूर, छूने का भी मन नहीं होता इन्हें इस गर्मी के बीच। उसने होंठों के ऊपर चुनचुनाता पसीना पोंछ डाला और नहानघर में घुस गई। जाड़ों में शायद यहां कुछ अच्छा भी लगता हो, इस मौसम में तो तौबा। देर तक वह रगड़-रगड़कर नहाती रही।

नहाकर वह निकली तो बदरंग मोटे पर्दों के पीछे शाम ढलने लगी थी। पिछवाड़े के किसी पोखर से उठती हुई पक्षियों की कर्कश आवाजें किसी भोथरी आरी की तरह सन्नाटे को चीरे जा रही थीं।

कुर्सी पर बैठकर उसने ट्रांजिस्टर चालू कर दिया। खड़-खड़ के बीच सारंगी के करुण स्वर—जैसे कोई गला भींचकर रो रहा हो। ऊबकर उसने ट्रांजिस्टर बन्द कर दिया। एक तो शाम के समय यूं ही जी घिरता है, तिसपर जंगल की यह औघड़ चुप्पी जिसके सामने आदमी वक्त काटने-भर को भी कोई रूमानी ढकोसला खड़ा नहीं कर सकता, माध्यम चाहे किताबें हों या संगीत। झूठे कारणों को लेकर आप कला के किसी रहस्य को नहीं टटोल सकते जनाब। वह सांस खींचकर पलंग पर बैठ गई। बरामदे के छोर से पदचाप पास आ रही थी। उदय होगा, उसने अनुमान लगाया। एक क्षण को उसकी पेशियां तनकर सख्त हुईं, फिर शिथिल। उदय उसके पास खड़ा था। कुछ देर चुप्पी रही।

"अब चलो भी, ड्राइवर को मना कर दिया है।" उदय की आवाज झुंझलाई हुई थी। उसने चुपचाप उठकर चप्पलों में पांव डाल दिए। सारा उत्साह ही मर गया था। बेकार जरा-सी बात को लेकर इतनी···पर सच में सोचो तो क्या सिर्फ इतनी-सी ही बात थी ? क्या उनके विगत सारे

झगड़ों की तल्खी किसी न किसी तरह परोक्ष रूप में हर बार उन दोनों के दर्म्यान फिर-फिर नहीं आ पैठती ?

उसने दरवाजा खोला और गाड़ी में बैठ गई।

गाड़ी रेस्टहाउस से बाहर निकली तो उसने शीशा गिरा लिया। हवा न ठण्डी थी, न बहुत गर्म, पर ताज़ी ज़रूर थी। उसने कनखियों से ताका। उदय ऐन सामने देखता हुआ गाड़ी चला रहा था। वह फिर बाहर देखने लगी। शाम की किरणों ने एक-एक कर सब परछाइयों को रबड़ की तरह तानकर लम्बा और दुबला बना दिया था। उस अजीब-से उजाले की झिलमिल लकीरों के बीच यह बूझना कठिन था कि कहां आकार खत्म होते थे और कहां परछाइयां शुरू! वह देखती रही। उसके देखते-देखते अब एक तीखी लाल रोशनी झिल्ली की तरह यहां-वहां आ लिपटी थी। क्षण-भंगुर पर चटक। ओझल होती खिड़कियों के कांच अचानक दियासलाई की तीलियों की तरह भक् से जल उठे, स्टियरिंग पर रखे उदय के हाथ, कार की खिड़की पर टिकी उसकी कुहनी सब इस तरह पारदर्शिता की ललाई में बिंधकर कुछ और ही अद्‌भुत-से हो गए थे। पत्तों के रंग बदल गए थे, फुनगियों के आकार, सड़कों के कोण सब अचानक कुछ और ही। फिर सूरज डूब गया था शायद। चीज़ें धीरे-धीरे अपनी परिचित स्थिरता ग्रहण करती वैसी ही हो चलीं। उदय अचकचाकर उसकी ओर मुड़ा।

"क्या हुआ, क्यों हंस रही हो ?"

"कुछ नहीं।" उसने अपने को समेट लिया। शायद कुछ भी ऐसा नहीं होता जैसा कि हम देखते हैं या सोचते हैं कि हमने देखा है। शायद कुछ भी ऐसा ज़रूरी या ग़ैरज़रूरी नहीं होता, हम ही उसे ऐसा बनाते जाते हैं जब तक कि कोई छोटा-सा अस्थायी अजूबा इस रोशनी की तरह अचानक नहीं आ पड़ता।

"सोच रही थी कि हमारी ज्यादातर झड़पें कितनी बेतुकी होती हैं ! नहीं ?"

"चलो, कभी तो तुमने ऐसा महसूस किया।" उदय ने आगे से आती बैलगाड़ी को बचाते कार निकाल ली। गाड़ी पर कोई नई बहू गठरी-सी बनी बैठी थी। साथ में तीन-चार बच्चे और छः-सात बुजुर्ग कलफ लगे लट्ठे की आत्मसजगता में सतर बैठे हुए। बच्चों की तेलिहा-काजल-पुती उत्सुकता देर तक गाड़ी का पीछा करती रही। उफ! इतने लिपटे-लिपटाए इस बहू को गर्मी नहीं लग रही होगी, उसने सोचा। शायद न भी लग रही हो। वही अपनी भावनाओं को दूसरों पर थोपे चली जाती है, हरदम।

गाड़ी अब सीधी-सपाट सड़क पर अकेली थी। उदय उसकी ओर मुड़ा।

"अब बताओ शाम को उस वक्त तुम क्या सोच रही थीं।"

एक चिड़चिड़ा क्षण भभककर गुज़र गया। फिर उसने पाया कि वह हंस रही है। उदय उसके हंसने से सहज हुआ। "बताओ न।"

उसके भीतर फिर कुछ बिदका, "क्यों?"

"क्यों क्या, यूं ही।"

रजनी ने सिर दूसरी ओर घुमा लिया।

"पुराने सिक्कों के बारे में सोच रही थी।"

"क्या?"

एक क्षण को उसे लगा कि फिर वही पुरानी बदरंग ज़िद उसके गले को रुंधा देगी, फिर एक कोशिश के साथ उसने अपना आक्रोश निगल लिया।

"यही कि उनपर क्या-क्या चीज़ें बनी रहती हैं, चांद, सूरज, चिड़ियां, चेहरे।"

"और?"

"और कुछ नहीं।"

उसे अचानक मन बड़ा हल्का महसूस हुआ। पता नहीं यह झूठ बोलकर अनचाहे प्रसंग से कतरा पाने की खुशी थी या अपनी ज़िद के बचकाने-

पन को दबा पाने की। वह दरवाजे के हत्थे पर यूं ही उंगलियां टकोरने लगी।

"एक ज़माने में हिस्ट्री में एम० ए० करने की सोचती थी।"

"फिर किया क्यों नहीं ?"

"शादी कर डाली आपसे।" रजनी हंस पड़ी। उदय गंभीर रहा।

"तो वह तो अभी भी कर सकती हो, अगर चाहो तो।" उसने गाड़ी स्टार्ट की।

"हां, सो तो है पर···" रजनी अनमनी-सी बाहर ताकने लगी।

सड़क के साथ-साथ सटकर चलती एक सुई-सी पतली नदी थी, जिसका बहाव पानी से कम, बिछने ढोकों की अनघड़ धूसर कतार से ही ज्यादा मालूम पड़ता था। गर्मी ने नदी के आकार को एकदम सुखाकर छोटे-से नाले में बदल डाला था। पर पानी साफ था, और सारी खुश्की के बावजूद लगता था कि नदी के दोनों किनारों पर नमी का आभास-भर पाते ही जंगल का पूरा एक टुकड़ा हरे पत्तों में फूट पड़ा था।

"गाड़ी रोकोगे ?" रजनी ने आंखों पर उड़े आते बाल पीछे किए। उदय ने चुपचाप गाड़ी रोक दी। एक क्षण को दोनों उस नीम अंधेरे में धंसे ही स्थिर बैठे रहे, फिर उदय स्टियरिंग पर कुहनी रखकर उसकी ओर मुड़ा, "उतरोगी ?"

"अं ? हां-हां।" वह उतर पड़ी।

सूखी मिट्टी के लाल फैलाव के बीच जगह-जगह नीचे छिपी चट्टानों की काली नोकें दीख रही थीं। जाने अंधेरे की वजह से या जंगल की नीरव क्रूरता के कारण, रजनी को लगा जैसे कि उसके चारों तरफ उगे वे छोटे, नाटे और गठीले आकार दरख्त नहीं बल्कि कुछ जीवन्त उपस्थितियां हैं, एक काली हिकारत में दम साधे उसे घूरती हुई। है हिम्मत उसमें कि आगे बढ़ सके। उनके कांटेदार संशय की दमघोंट चुप्पी के बीच ? सब एकदम स्थिर, पर चौकन्ना था। ऐसी चुप्पी जो एक खुरक डर के

मुहाने पर···उसने दंभ से सिर झटकारा। वह बेकार अपनी दब्बू आत्म-हीनता को लेकर बेकार का ऊल-जलूल सोच······पर भय झटके से नहीं हटा। मुट्ठी की तरह उसके पेट में कुछ सख्त होता जा रहा था। भय ? असमंजस ? क्रोध ? किसी झाड़ी में कोई जानवर हिला तो वह कूद पड़ी, फिर एक ज़िद में दांत भींचे स्थिर हो गई। ऐसा नहीं कि उसने कभी जंगल देखा ही न हो। उस खुशनुमा पहाड़ी शहर में उनका स्कूल भी तो एक जंगल के ही बीच था, जिसकी सोंधी हरी गहराइयों के बीच वे लोग बिना वार्डन की इजाज़त के भी टहल-घूम सकते थे। चीड़ की कसैली तुर्श सुई-सी पत्तियों को चूसते, दरख्तों पर चाकू से नाम गोदते, मूंगफलियां चबाते।

पर स्कूल की बाल्कनी या पहाड़ों की चक्करदार सड़कों के परे कार की चमकीली खिड़की से दीखते वे जंगल इस सबसे कितने भिन्न थे ! बिल्ली तरह एक पालतू नर्माई, ये घुरघराते हुए भरपूर नीले उजास और तरल परछाइयों में कांपते हुए, धुंध में नहाए, नमकीन।

और यहां ? उसने चारों ओर नज़र दौड़ाई। जैसे वह किसी दूसरे ही उपग्रह के तल पर आ खड़ी हुई हो जहां फूहड़ झोंटे-से झक्कड़ पेड़ों में न देवदारों का सहज आभिजात्य था और न ही चीड़ों की सुघड़ ज्यामितीय लम्बाई। सूखी बंजर धरती को चुप जकड़े खड़ी इस वनस्पति में चट्टानी धरती फोड़कर उगने और सूखे पत्तों के बीच से जबरन खुराक ले पाने का एक अजीब-सा झक्कड़-झगड़ालू मलंगपना था। शायद उदय ही ठीक कहता था। यहां आ खड़े होने की उसकी जिद एकदम बेतुकी थी; बेतुकी और गैरजरूरी। पापा का कहना था कि हर चीज़ का एक समय होता है, एक मौका, जिसके बिना कोई चीज़ ठीक से नहीं···मां-पापा के पास जीवन की हर उलझन को निबटाने के लिए एक फार्मूला था, जिसके अनुशासन में बंधकर हर कोई एक सुखी-सम्पन्न गृहस्थ धर्म की मर्यादा बखूबी निबाह ले। बस, इतना-भर ज़रूरी था कि इन गैरज़रूरी और बचकानी ज़िद-भरे प्रयोगों को दूर हटाकर···

"क्या हुआ ?" उदय कार से उतरकर कब उसकी बगल में खड़ा हुआ, उसकी मिची हुई चेतना को मालूम ही ······

"कुछ नहीं।"

"तब फिर खड़ी-खड़ी क्या कर रही हो ?" अपनी आवाज़ की रुखाई से शायद शर्मिन्दा होकर उदय ने उसकी कुहनी छुई। थोड़ी देर दोनों चुपचाप चलते रहे। अब ज़मीन ढलवां हो चली थी। कभी उनके पैरों से टकरा कोई पत्थर लुढ़कता तो देर तक उसके नीचे लुढ़कते जाने की आवाज़ आती रहती। उदय ने पैर पटककर जूते की गर्द झाड़ी।

"हम लोग जब यहां पहाड़ों में थे तो बिल्लो और मैं ढाल पर हाथ पकड़कर तेज़ी से भागना शुरू कर देते थे। कुछ देर बाद पैर अपने-आप इतनी तेज़ी से चलने लगते हैं कि लगता है कि कोई और धक्का दे रहा है।"

"समझदारी की बात करो। इतने अंधेरे में वह सब ठीक नहीं होगा, समझी !" उदय ने बड़प्पन-भरे लाड़ से उसकी पीठ थपथपाई। "बुरा मत मानना, पर तुम शायद यह सोचती हो कि इस वक्त हम लोग फिर वही बातें करें जो तुम तब किया करती थी, तो वह लौट आएगा, पर वैसा नहीं हो सकता। तुम बड़ी हो गई हो तब से। और शायद बदल भी गई हो, अपने दो चोटी वाले बचपने से लेकर··" वह हंसने लगा।

पगडंडी पर ऊपर चढ़ते हुए रजनी को लग रहा था कि वह सपने में उदय को बोलता हुआ सुन रही है। अंधेरा, चारों ओर के अपरिचित आकार, हवा की अजीब-सी आवाज़ें। उसे लग रहा था कि जैसे वह है भी, और नहीं भी। उसे किसीकी हंसी की आवाज़ आई। उदय ? नहीं, वही हंस रही थी शायद। या शायद उसके भीतर कहीं से हंसी की आवाज़ आ रही थी। वह बकरी की चतुर फुर्ती से पगडंडी चढ़ने लगी, एड़ियां रोपकर टखने की पेशियों को रुद्ध आवेग से ठोस करते हुए, जैसे बिल्लो ने सिखाया···

"रजनी !" सूखी टहनियां कुचलने का स्वर पास आ रहा था। उसे शायद उतने ऊपर नहीं चढ़ना चाहिए। शायद वह गिर सकती है। शायद

उसकी गदराई पिंडलियां एक चालू ढंग से उघड़ आई हैं। बेशर्मी। वह हंसने लगी, पापा होते तो क्या कहते ? और उदय ? और उदय के पापा ? उसे किसीके बाप की परवाह नहीं, वह ऐसे नहीं रहेगी।

"रजनी, नीचे उतरो।" उदय के स्वर में डर भी था, धमकी भी।

"अगर न उतरूं तो ?" एक अभद्र छलांग से वह दूसरे ढोके पर जा कूदी। "बड़ा मजा आ रहा था, बड़ा मजा—आ-आ-आ···"

कोई उसे झकझोर रहा था। वह थमकी। फिर उसके पैर नीचे उतरते-उतरते सपाट-समतल ज़मीन पर टिक गए। उसकी सांस फूल रही थी। उसने पुतलियां सिकोड़कर देखने की कोशिश की। अंधेरा बढ़ गया था, जाने कब ? एक पल गुज़रा, सदियां गुज़र गईं, उसके सामने पहले एक आकार उभरा, फिर एक चेहरा, फिर आकार एक परिचित स्पर्श बनता गया और चेहरा एक परिचित आवाज़ । उदय उसके कंधे झकझोर रहा था, "रजनी।" उसने आंखें झपकाई। हवा और भी तेज़ी से हल्ला मचाती गुज़र रही थी। अंधेरा काफी बढ़ गया था।

"पागल हो गई हो क्या ?"

रजनी ने कार का शीशा चढ़ा दिया और आंखें मूंद लीं। सीधी-सपाट सड़क पर गाड़ी चुपचाप बढ़ती जा रही थी। उसने खिड़की खोली और बाहर सिर निकालकर सपाटे से निकली जा रही हवा में गहरी सांस ली। साफ और ताज़े झोंके की तुर्शी से आंखों में पानी आ गया। एक धुंध-सी कट गई मानो।

उसने खिसियाई कनखियों से उदय की ओर ताका। उसके पोरों में कुछ रिसने-सा लगा था। शायद डर, शायद संकोच, या दोनों। शायद यह गर्मी न पड़ रही होती तो···

अच्छा तमाशा कर डाला उसने भी। ज़रा गर्मी क्या बढ़ गई तो ऐसा तूफान ! पर जाने क्या है कि इस मौसम में उसकी हर क्रिया-प्रक्रिया एक अजीब-से ढंग से फनफनाकर बेलगाम-सी हो उठती है। छोटी-छोटी बातें

जिन्हें वैसे वह यूं ही टाल जाती, गर्मी की तपन में असह्य होकर काटने आती हैं। पड़ोसियों का रेडियो जरा भी तीखा पड़ा तो मन करता है कि अभी धम-धम करती वहां जाए और रेडियो को उठाकर ऐसे धाय से दे पटके कि उनकी आंखों के सामने ही उसके सारे अंजर-पंजर ढीले पड़ जाएं। मेज पर रखा खाना जरूरत से ज्यादा गर्म हो, तो जी करता है कि कालर से पकड़कर नौकर को ऐसा झकझोरे कि उसकी घिघियाती ठोढ़ी खुली ही रह जाए। पता नहीं क्या होता जा रहा है उसे ! उफ् ! काश यह गर्मी नहीं होती तो···

उदय ने गियर बदला था शायद। एक गुर्राहट के साथ गाड़ी कुछ थमकी, फिर ऊपर चढ़ने लगी थी।

"क्या सोच रहे हो ?" उसने अपनी हथेली स्टियरिंग पर रखे उदय के हाथ पर रख दी।

"कुछ नहीं।" उदय ने उसकी आवाज़ की नकल की और हंस पड़ा।

"मुझपर हंस रहे हो, नहीं ?" रजनी भी हंस पड़ी।

"मैं एक बार सोच रहा था कि तुम जब भी कभी कोई बात पूछती या बताती हो तो हमेशा अंत में सकपकाकर एक 'नहीं ?' क्यों जोड़ देती हो ? शायद तुम्हें हमेशा गलत बात कह जाने का डर लगता रहता है, क्यों ?"

"पता नहीं।" रजनी ने जमुहाई ली। "जरा जल्दी चलो। ड्राइवर बैठा-बैठा हमें कोस रहा होगा।"

"बस देखा न ? यही तो बात है। जहां बहस का सवाल उठता है तुम जमुहाई लेने लगती हो। दरअसल तुम्हारे जैसी औरतों के साथ परेशानी यह है कि तुम सोचती बहुत हो पर साथ ही दिमाग़ी तौर से हो घोर आलसी। बस कुछ और सोचकर जवाब देने का मौका आया तो या तो जमुहाई लेने लगती हो या हिस्टीरिकल हो जाओगी। यूं मैं एक बात-भर कह रहा हूं।" उदय ने सफाई दी पर उसकी आंखों में तैरती हल्की चिन्ता रजनी ने ताड़ ली थी। वह फिर डर गया था कि वह भभक पड़ेगी। वह चुपचाप सर झुकाए पर्स के फीते से खेलती रही। चांदनी रात में

तेजी से पीछे छूटी जाती झाड़ियां काले लबादों में लिपटी विलाप करती स्त्री-आकृतियां-सी लग रही थीं—झुकी हुई और धीरे-धीरे हिलती हुई। हर सांत्वना के परे अपने काले दुःख की गोपनीयता में डूबी हुई।

"किस सोच में पड़ गई ?" उदय गाड़ी को डाक बंगले के भीतर मोड़ रहा था। इमारत अंधेरी-सी लगती थी। बिजली-चली गई थी शायद। "लो। यह भी।" उसने हताशा से अपने को ढीला और छोटा होता···

चौकीदार एक पुराना लैम्प जलाकर भीतर के कमरे में खाना लगा गया था। छोटा-सा कमरा धुंधली, कांपती परछाइयों में भरकर और भी छोटा और दीन लग रहा था। वह डाक बंगला पहले किसी स्थानीय ताल्लुकेदार की शिकारगाह हुआ करता था, फिर सरकार ने खरीद लिया था। अब पुराने फर्नीचर के कुछ टूटे-फूटे अवशेषों को छोड़कर बाकी सब नया, भोंडा, और फारमाइका के चिकने चमकीले चालूपन में मढ़ा था। दरियों पर जगह-जगह चीकट धब्बे थे, कांच के विराट केस में इक्के-दुक्के बदरंग और बेमेल चीनी के बर्तन उपेक्षित-से पड़े थे। इनके और नेताओं की धूल-भरी तस्वीरों के बीच जानवरों के भुस-भरे सिर जगह-जगह टंगे हुए थे, जिनकी खाल पतंगों ने कुतर खाई थी।

"सब उठा ले गए जंगलात वाले मेम सा···"पुराने चौकीदार ने सुरती थूकते हुए एक पनियाली हिकारत से इमारत को देखा था। "ऐसे-ऐसे गलीचे थे, सीसम के छपरखट थे, ये भारी-भारी छुरी-कांटा, चम्मच, सब बुटिस कर दीन।"

"किसीने पकड़ा नहीं ?" प्रश्न पूछते ही उसे अपनी बेवकूफी खली। चौकीदार भी हंस दिया।

"अरे उन्हें कौन पकड़ेगा ?" लंगड़ाता-सा वह अपने क्वार्टर को चल दिया। दो-तीन अधनंगे बच्चे कुतूहल से उंगलियां चूसते उसे देख रहे थे। चौकीदार ने हाथ उठाकर धमकाया। हात् ! तो चूजों की तरह कुड़कुड़ाते हुए बिखर गए थे। उसका मन किया कि उन्हें पास बुलाकर कुछ दे दे—

पैसा या रूमाल या कुछ भी फिर अपने अनुचित औदार्य से वह खुद ही सिकुड़ गई। छि., उन गेवाकलर गृहोपयोगी पत्रिकाओं में मुस्कराती गदराई समाज-सेविकाओं से वह क्या कुछ बेहतर है ? अपने बेहतरीन नाखूनों को घूरते-घूरते उसने अचानक खुद को बहुत अकेला और फालतू महसूस किया था। उदय तो अटैची-भर कागजात से आया था और मजे से उन्हें निबटा रहा था। "कुछ कहा ?" उसने व्यस्त भाव से रजनी की ओर देखा।

"कुछ नहीं।"

उसे जो रही-सही भूख थी वह भी मिर्च वाले लाल घी में उतराती सब्जियों और वनस्पति घी से चुहचुहाती रोटियों को देखकर उतर गई। बेचारा चौकीदार अपने तई मोटी टिप की आशा में काफी तर माल बना-कर रख गया होगा।

"लो न!" उदय ने उसकी ओर प्लेट सरकाई। एक तो डायनिंग रूम छोटा-सा था, और उसपर पंखे की गर्म हवा में खाने की गंध और भी बोझिल होकर नीचे झुक आई थी। भरे मन से उसने थोड़ी-सी सब्जी प्लेट में डाल ली। उदय आदतन कम खाता है और वह भी एक स्नायविक व्यग्रता से, जैसे एक काम है जिसे तुरत निबटाना होगा। उसके चेहरे से कोई अंदाज नहीं लगा सकता कि उसे खाना अच्छा लग रहा है या बुरा। एक सपाट मुस्तैदी से कौर के बाद कौर। शुरू-शुरू में उसे अजीब-सा लगता था, पर अब तो आदत-सी पड़ गई है। हालांकि बचपन के अधि-कांश दिन उसने भी होस्टलों का ही नीरस खाना खाकर बिताए हैं पर उदय की तरह से उसे खाने से ऐसा विराग कभी नहीं हुआ। पहले-पहल उसे देर तक चटखारे ले-लेकर खाना पसन्द था। खासकर तर्जनी की नोक पर जरा-सा ममासा या चटनी सी-सी करते हुए चाटना या अचार की गुठली को देर तक मुंह में घुमा-घुमाकर चूसना। पर जब जीभ से आखिरी चटखारा लेकर वह उदय की तरफ देखती तो पाती कि वह कब का खाना खत्म कर एक उदासीन सहिष्णुता से उसके उठने की राह देख रहा है

तब उसे अचानक अपने चटखारे एक बेहद लोलुप और बचकानी हरकत लगने लगते थे। फिर पता नहीं कब उसने भी खुद-बखुद उदय की ही अनमनी तेज़ी अपना ली थी। कैसे अजीबोगरीब ढंग से हम धीमे-धीमे बदलते रहते हैं और हमें ही पता नहीं चलता। अजीब बात है, नहीं ?

"कुछ और लो न !" उदय ने व्यस्त भाव से उसकी ओर प्लेट बढ़ा दी थी।

"हूं ?" अचकचाकर उसने ताका, फिर प्लेट हटाकर पानी की एक बड़ी-सी घूंट ली।

"नहीं, बस !" पानी कुनकुना और खारा था, उसके मुंह का स्वाद बकबका हो आया।

"बड़ी गर्मी है, नहीं ?" उसने झुककर पिंडली खुजलाई। पोखर पास होने से यहां ढेरों मच्छर थे।

"तुमने इधर खाना बहुत कम कर दिया है।"उदय चिन्ता-भरी आंखों से उसे ताक रहा था। रजनी ने फिर वही कहना चाहा, गर्मी के बारे में, पर चुप रही। क्या फायदा? हर बात के लिए फिर-फिर वही कारण देना कि गर्मी है, गर्मी है। हालांकि बात काफी हद तक सही थी, लेकिन तब भी। वह चुपचाप पापड़ का एक छोटा टुकड़ा कुतरने लगी। काली मिर्च की क्षार से आंखों में पानी भर आया। उसने फिर उसी खारे पानी की घूंट ली और उठ खड़ी हुई। ऊमस में छत और भी नीची लग रही थी। बाहर निकलकर उसने गहरी सांस ली।

चौकीदार ने दोनों पलंग बाहर खुले में लगा दिए थे, मसहरी समेत। बगल में एक विराट प्रागैतिहासिक पंखा डरावनी ध्वनियां करता घूम रहा था। बिजली आ गई होगी शायद, उसने सांत्वना की सांस ली। पर मसहरी देखते ही उसे सख्त कोफ्त होती है। एक तो गर्मी, ऊपर से बदन के चारों ओर तना हुआ यह बंद डब्बा। करवट बदलो तो मसहरी, पैर फैलाओ तो मसहरी, अंगड़ाई लो तो···कभी-कभी तो उसका मन करता

या कि पागलों की तरह दांतों से उसे चीथ डाले।

"सो गईं क्या?" उसके बगल का पलंग उदय के लेटने से कुछ हिला। रजनी ने मसहरी की दीवार हटा ली थी और घर्राते टेबल फैन के ऐन सामने चेहरा किए लेटी थी। पंखे की तेज हवा से उसकी आंखें खुद-बखुद मुंदी जा रही थीं। हालांकि नींद जरा भी नहीं आ रही थी। पंखे की घर्राहट ने आसपास की ध्वनियों को दबाकर एक कांपता हुआ शून्य उसके चारों ओर तान दिया था। उसने इल्ली की तरह सिकुड़कर उसमें घुसने की कोशिश की।

"सो गईं क्या?" उदय ने फिर पूछा शायद।

उसने सप्रयास करवट लेकर अपने दोनों के बीच टंगी मसहरी की फांक ऊपर की, "नहीं।"

"मसहरी क्यों उठा दी तुमने? मच्छर लगेंगे।"

वह चुप रही। वह फिर एक फिजूल की बहस में फंसकर अपने को बौना होते नहीं महसूस करना चाहती थी; कम से कम इस वक्त तो।

"बहुत गर्मी है, नहीं?"

"हूं।" उदय का हाथ उसके खुले बालों की कई फांकें बनाता उन्हें सहला रहा था—धीरे-धीरे। उसे भला लगा। शारीरिक सुख रिसते-रिसते, भीतर की सब दुखती गांठों को ढीला करता जा रहा था। इतना कि शायद वह बिल्ली होती तो चित लेटकर घुरघुराने लगती। वह हंसने लगी।

"क्या हुआ?"

"कुछ नहीं। बस सोच रही थी कि अगर मैं बिल्ली होती तो शायद ऐसे सहलाने से घुरघुराने लगती।"

उदय हंसा या नहीं वह नहीं देख पाई। दोनों के बीच मसहरी की झीनी पर स्पष्ट दीवार थी। उदय का हाथ वैसे ही फिरता रहा।

"उदय।"

"हूं?"

'क्या हर साल इतनी ही गर्मी पड़ती है या इस साल कुछ ज़्यादा ही है ?"

उदय ने मसहरी से सिर निकाल लिया था, "तुम्हें गर्मी में बहुत तकलीफ होती है न ?"

"तकलीफ तो सभीको होती है, मैं तो ऐसे ही···"

"उहुंक्, तुम्हें गर्मी में रहने की आदत जो नहीं है न, इसीसे तुम्हें ज्यादा होती है।"

"हो जाएगी।" लहजे को हल्का रखने की भरपूर कोशिश करते हुए उसने हाथ पंखे की ओर बढ़ा दिया और गदेली हवा में उलटती-पलटती रही जैसे आग सेंक रही हो।

"इम्तहान के दिनों में वहां इतनी ठण्ड होती थी कि हम लोग दो-दो दस्ताने पहनकर स्कूल जाते थे, वर्ना लिखते-लिखते उंगलियां ठिठुर जातीं। क्लास में हम लोग हमेशा खूब लड़-झगड़कर हीटर के पास वाला डेस्क लेने की फिराक में रहते थे।" अनमनी-सी रजनी ने हाथ समेट लिया। "कौन कहेगा कि इसी देश की बात कर रही हूं, नहीं ?" चित लेटकर वह ऊपर ताकने लगी। मसहरी की छत धूल और चिकनाई से भूरी-पीली हो चली थी। कभी हिलने से कहीं एकाध तारा दिख जाता। चांद एक धुंधला धब्बा-भर। उस छोटे-से पहाड़ी कस्बे के स्कूल में बीता उसका विगत कभी उसे खुद इतना हैरतअंगेज़ मालूम देता है कि लगता है, अचरज-लोक की एलिस की तरह उसने कोई मज़ेदार और अजीब-सा सपना-भर देखा है।

"रजनी !" उदय ने उसकी ओर करवट बदल ली। "तुमने आखिर मुझसे शादी क्यों की ?"

एक तीखी सांस उसके गले में आकर अटक गई। प्रश्नों का सरकस शुरू हो गया था। एक के बाद एक मंजे-मंजाए उत्तर अब अखाड़े में उतरते चले जाएंगे, एक चिपचिपी तोलिहा तेजी समेत। फिर वही जानी-पहचानी चकरघिन्नियां-दांव-पेंच।

"क्योंकि तुम अच्छे लगे, बस।"

"पर क्यों ? तुमने तो मुझे दो-एक ही बार देखा था ।"

"पर तुम्हारे बारे में सुना तो था ।"

"तुमने या तुम्हारे घर के लोगों ने ?" रजनी ने सर तकिया में गड़ा दिया । उसे मालूम था कि प्रश्न की क्रूर सच्चाई से उदय उसे तिलमिलाता हुआ देखना चाहता था । वह चुप रही । क्या कहे वह ? अपने सारे हमसुख गदराव के बावजूद उसका अतीत कितना पराया था, खुद उसके लिए भी । अब कम से कम । एक नम और सुरक्षित शून्य में, मजे में पलता-पुसता समय । साल-दर-साल वही कार्यक्रम, साल के नौ महीने उस खुशनुमा स्कूल के हास्टल में, जाड़ों में तीन महीने मैदानों में बिताई छुट्टियां, नन्स के कठोर पर ममता-भरे अनुशासन के बीच उभर आए छोटे-छोटे कुंवारे कामनाद्वीप, पार्टियां, सैर-सपाटे, नये कपड़े—बस, यही कुछ तो ? कुछ भी तो ऐसा नहीं था जिसपर उंगली टीपकर वह कह सके कि हां, यह मेरा एकदम निजी क्षण था । पर तब उसे वह नागवार गुजरा हो, ऐसा भी नहीं था । बस, कभी-कभी हर गर्मी में उसी बालकनी से उन्हीं-उन्हीं सैलानियों की भीड़ में परिचित चेहरे खोजते हुए एक हल्की ऊब-सी जरूर महसूस होने लगती थी । पर तब तक सालाना जल्सों की तैयारियां शुरू हो जाती थीं, फिर शहर के सिनेमाघरों में नई अंग्रेजी फिल्में आ जाती थीं और फिर गर्मी की छुट्टियां बिताने को मां-पापा अपने उसी खुशनुमा काटेज में आ जाते थे जिसका नाम था, 'स्लीपी होलो' यानी ऊंघती हुई खाद । कैसा सटीक नाम था । वह हंसने लगी ।

उदय की चारपाई फिर हिली । गर्मी में उसे भी नींद नहीं आ रही थी शायद । "सो गईं क्या ?"

उसे लगा कि एक तीखा उत्तर भन्ना-भन्नाकर उसके चक्कर काट रहा है । यकायक दिन में दूसरी बार एक ऐसी स्पष्टता से उसने छुटकारे की चाहना को महसूस किया कि बदन में झुरझुरी-सी दौड़ गई । उसे लगने लगा कि जैसे उस अपरिचित जगल में उमड़ती जंगली हवा का क्रूर और अंधा सैलाब उसकी कनपटी में फिर टकरा रहा है । वह स्थिर लेटी रही ।

तनाव से बदन की हर पेशी इस कदर खिंची हुई थी कि अगर उदय उसे फिर छू लेता तो शायद वह चिल्ला पड़ती। पर उदय की चारपाई पर कोई हरकत नहीं हुई। वह सो गया होगा शायद।

टिप्! चौकीदार ने बरामदे की बत्ती भी बुझा दी। अब बस रात का उजाला और रात की आवाजें-भर बच रही थीं। वह उठकर बैठ गई और घुटनों पर ठोड़ी रखे अंधेरे में ताकने लगी। डाक बंगले के परे कोई बच्चा रोया शायद। फिर कोई औरत कुछ देर एक उनींदेपन से कुछ गुनगुनाती रही। थोड़ी देर बाद बच्चा भी चुप हो गया और औरत भी। फिर वही अजहद चुप्पी। कहीं एक पत्ता भी नहीं खड़क रहा था। उसने धीरे से उठकर सुराही से एक गिलास पानी लिया और घूंट भर लिया। पानी वैसा ही था, कुनकुना और खारा-सा। उसने बाकी पानी ज़मीन पर उलट दिया। एक 'सोंऽ' की आवाज़ आई और पानी ऐसी उतावली से सूख गया जैसे गर्म तवे पर डाला गया हो। वह कुछ देर उस गाढ़े-भूरे धब्बे को देखती रही, फिर लेट गई।

यहां तारे खूब चटक थे। पर चांद नहीं था। अमावस्या हो शायद। वहां होस्टल में रहते उसने कभी सोचा भी नहीं था कि ऐसे बाहर एकदम खुले में भी सोया जा सकता है। वहां तो शाम के पांच बजे नहीं कि सब लड़कियां भेड़ों के मिमियाते झुण्ड की तरह भीतर हांक दी जाती थीं। खुशनुमा उजास और गर्मी-भरी लम्बी डार्मेटरी में करीने से झक्क उजले और नर्म बिस्तरों की कतारें लगी रहती थीं। कपड़े बदलकर वे सब अपने-अपने पलंग के बगल में घुटनों के बल झुक जातीं प्रार्थना करने को। पिछवाड़े शाम के एंजेल्स की मधुर घंटियां बजती रहतीं— 'आवर फादर हू आर्ट इन हैवन...' सच में कौन कहेगा कि वह इसी देश, अपनी इसी जिन्दगी की बातें कर रही है! अब तो वह सब याद भी आता है तो एक धुंधली परीकथा की तरह। जैसे घने कुहासे में कोई हाथ फैला-फैलाकर कुछ टटोलता जाए और उसकी सारी कोशिशों के बावजूद जो हाथ

लगता है वह एक मुट्ठी-भर घुंध-भर। राग के रंग की पुरनम धुंध जो उसकी असहाय पकड़ से फिसल…। और ऊपर से तन-मन को खौला-खौलाकर पछोरने वाली यह गर्मी जिसने फींच-फींचकर उसकी सारी चेतना को ऐसा कुन्द कर डाला है कि अपनी ही हरकतों पर कोई बस नहीं चलता।

पर क्या पता शायद यह गर्मी उसके लिए अपनी सारी उकताहट और बेचैनी को एक अदृश्य उपस्थिति पर थोपने का एक आसान बहाना-भर है ! नहीं ? सिर तले का तकिया पसीने से एकदम भीग गया था। उसने तकिया निकालकर अलग डाल दिया और बाल गर्दन से हटाकर ऊपर छितरा दिए। जहां बदन का स्पर्श नहीं हुआ था वहां चादर अभी भी आश्चर्यजनक रूप से ठण्डी और नर्म थी। उसने आंखें मूंद लीं। कुछ पत्ते खड़के और हवा का एक बहुत ही मीठा झोंका बह आया। उदय की मसहरी उसकी कुहनी के पास एक नाज़ुक थिरकन से कांपी, फिर दूसरा झोंका, फिर तीसरा। आह्! उसने एक भरपूर सांस छोड़ते हुए अपने को हवाओं को सौंप दिया। मन के एक कोने में विद्रोह-सा भी उठा। मौसम की तानाशाही और अपने बदन की उस पुलकित बेचारगी के विरुद्ध, पर थकान बहुत ज्यादा थी और हवा बेहद नर्म। जाने कब उसकी आंख लग गई।

गाड़ी के पीछे कुछ दूर तक चन्द अधनंगे भूरे बच्चे अपनी नाक सुड़कते, हल्ला करते भागते रहे और एक मरियल कुत्ता भी, जिसे कभी एकाध टुकड़ा मेज़ से फेंककर उसने अनजाने ही परिचय मोल ले लिया था। "याक् ! याक्!" कुत्ते की आवाज़ भी उसकी खुजलिहा देह की ही तरह पतली और घिघियाती हुई-सी थी। रजनी को न मालूम क्यों उसकी यह अनचाही भक्ति बेहद नागवार गुज़री। खिड़की से सर निकालकर उसने डांटा भी, "दुत्त ! भाग !" "याक् !" कुत्ता कुछ थमककर अपनी पनीली कीचड़-भरी आंखों से ताकने लगा। उसकी गुलाबी जीभ बाहर लटकी

हांफ रही थी। रजनी ने सर फिराकर खिड़की चढ़ा ली। फिर जाने कब कुत्ता भी पीछे छूट गया। इतनी अलस्सुबह भी गर्मी शुरू हो गई थी। उसने बाल कसकर लपेट लिए और फिर से शीशा नीचे कर लिया। सुबह की हवा के झोंके से गर्दन पर की चुनचुनाती गर्मी कुछ कम हुई। जंगल तेज़ी से पीछे छूट रहा था और गांव दीखने लगे थे। थोड़ी-थोड़ी दूर पर छोटे-बड़े पोखरों में नहा रही भैंसें और चरवाहे या सड़क किनारे अधमैली धोतियों के अवगुण्ठन से झांकती उदास पसीजती आंखें दीखती जाती थीं। जैसे कोई सिनेमा की वही रील फिर-फिर दिखा रहा हो। वहां घबराई-घबराई-सी कच्ची झोपड़ियां, दालानों में लोटते सुअर, मुर्गियां और नंगे बच्चे, छतों पर सूखता पुआल और मुर्झाई लतरें, और फिर दरवाज़ों से टिकी, मुंडेरों पर बैठती वही पीली ज्वरग्रस्त आंखें जो शायद कुछ देखतीं नहीं, दिखातीं नहीं, बस है।

"थोड़ा और जल्दी रवाना होना था, नहीं ?" उदय बिना किसी उद्वेग के बाहर देख रहा था। बड़े आराम से। उसके लिए जैसे गर्मी थी ही नहीं, रजनी को हल्की जलन-सी हुई।

"पानी पियोगी ?" उदय पूछ रहा था। वह चौंकी "अं ? हां-हां।"

ड्राइवर ने गाड़ी रोक ली और जेब से बीड़ी का बंडल निकालता हुआ झुरमुट के परे चल दिया जहां शायद चाय की दुकानें थीं। उसने थर्मस से निकालकर पानी का एक गिलास उदय को दिया, एक खुद होंठों से लगा लिया। फिर वही मिट्टी से कुछ-कुछ किरकिराता हुआ खारा पानी। रूमाल भिगोकर उसने चेहरा पोंछा। उदय एहतियात से गिलास खंगाल-कर औंधा चुका था और सीट से टिका आराम से सामने ताक रहा था।

"तुम्हें गर्मी नहीं लग रही ?" उसने कुछ कुढ़कर ही पूछा।

"हं ? नहीं तो, हां, थोड़ी-बहुत।" उदय ने बालों पर हाथ फिराया। "क्यों ? बहुत थक गई क्या ? बस घण्टा-भर और है।"

"हूं ऽ" वह चुप हो गई। गर्मियों की सुबह की हवा भी कैसी घुटी-घुटी होती है, नहीं ? बस, घर पहुंचते-पहुंचते फिर वही धूल-भरी बीहड़

आधी उड़ने लगेगी। उफ, गर्मी के इस विकराल मैदानी रूप की तो उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी। उनके स्कूल में गर्मियों की छुट्टियां नहीं होती थीं सो मां-पापा ही उनसे मिलने को पहाड़ों पर चले आते थे, जाड़ों में जब वे घर जाते तो मैदानों का दूसरा ही रूप होता था। वह बौराते अंधड़ों का उन्माद, धूल और चटक सफेद दुपहरियों का अंधा कर देने वाला तीखापन, सूनी सड़कों पर भटकी आत्माओं से उड़ते पत्ते और प्रेत-से नाचते धूलिस्तम्भ। सब एकदम आकस्मिक थे। वह कुनकुना आसमान और धूप के नर्म खरगोशी धब्बों वाली सड़कें, नीले कुहासे में लिपटी टिम-टिमाती रूमानी शामें, जिन्हें उसने मैदानी मौसम के रूप में जाना था, अब छलावा-भर लगते थे। पर छलावा क्या सिर्फ मौसम तक ही सीमित था? अब तो कुछ बच रहा था तो यही चटक सफेद दुपहरी का तपता सन्नाटा और उसके बीचों-बीच मुरझाए पौधों की तरह जड़ी हुई भूरी-उदास-ज्वरग्रस्त आंखें। और शायद जब तक कोई कुछ और सोचना भी चाहे तब तक इस सारे को सहला-सहलाकर ढकती हुई रात गए की बूढ़ी बयारें चलना शुरू हो जाती हैं और थकी चेतना एक शर्मनाक खुमारी में डूब···

ड्राइवर जाने कब आकर गाड़ी में बैठ गया था। कार झटके से स्टार्ट हो गई। आसमान का एक हिस्सा फिर एक रुपहली अभद्रता से चमकने लगा। वह मंत्रमुग्ध-सी सामने बैठे ड्राइवर की काली गर्दन पर उभरती पसीने की बूंदें देख रही थी। काली-स्याह चमड़ी पर एक-एक कर बूंदें उभरतीं, फिर कुछ बूंदें मिलकर एक बड़ी-सी बूंद बन जातीं और हौले से बहकर उसकी वर्दी के झक उजले कालर के भीतर रेंग जातीं। उसने अपनी गर्दन पर उन बूंदों की कुनकुनी सुरसुराहट महसूस की। पर ड्राइवर को स्पष्ट ही कोई परेशानी नहीं महसूस हो रही थी। शायद उसे पता भी न चला हो कि उसका बदन कैसे बूंदों में फूटा पड़ रहा है। उसने उदय की ओर देखा। वह चुपचाप दरवाजे के शीशे से सिर टिकाए सो रहा था। उसके भरे-भरे होंठों और ठोडी के हठीले मोड़ के बीच भी वही बूंदें। एक बार उसका मन किया कि उदय को जगा दे और उससे

बातें करने लगे—कुछ भी, किसी भी तरह की। पर इस तपन में किसी भी शब्द, हाव-भाव का कोई मतलब रह जाता है क्या? पानी की तली में चलने वाले गोताखोर की तरह उसकी हर मुद्रा अपने वेग के बावजूद गर्मी से टकराकर कुन्द हो-होकर रह जाती है।

"क्या हुआ? तबीयत तो ठीक है न?" उदय उसकी कुहनी छू रहा था।

उसने हंसने की कोशिश-सी की।

"कुछ भी तो नहीं।"

"तुम्हारा चेहरा बहुत उतरा हुआ लग रहा है। चाहो तो थोड़ी देर को गाड़ी रुकवा लें?"

"नहीं-नहीं, मैं तो बिल्कुल ठीक हूं।" उसने होंठों पर जुबान फिराई, "अब तो जल्दी से जल्दी घर पहुंचना चाहती हूं, फिर जी भरकर नहाना।" उसने उदय को देखा। उदय मुस्कराया। फिर दोनों चुप बैठे रहे। अनाज की बोरियों से लदी एक ट्रक बगल से गुज़र गई। बोरियों के ऊपर बैठे मज़दूर देर तक उन्हें मुड़-मुड़कर देखते रहे। सबने अपने चेहरों को गमछों से ऐसे बांध रखा था कि सफेद-काली पुतलियां-भर नजर आती थीं। रजनी ने निगाह फिरा ली। ट्रक के पीछे बने एक कमल के फूल और नजरबट्टू चप्पल के दर्म्यान लिखा था 'फिर मिलेंगे।'

अब एकाध पक्के मकान दीखने लगे थे। नोनी झड़ती हरी-भूरी दीवारों पर काले, सफेद और गेरुआ अक्षरों में ज़नाना-मर्दाना और बच्चों के रोगों से संबंधित दवाओं के विराट् नाम थे। कहीं-कहीं फिल्मों के अधफटे नये पोस्टरों पर गदराई मांसल तारिकाएं और नकाबपोश झलक जाते थे। आगे-पीछे गड़हियां, ठेले, रिक्शे, सब्जियों, फलों की असम्भव लगती लदानें लादे हुए मरियल टट्टुओं वाले इक्के। कार एकदम रेंग-सी रही थी। ड्राइवर की ओर का शीशा आधा गिरा हुआ था जिससे रह-रहकर आसपास के ढाबों में भुन रहे मसालों की घी-दार गंध और सड़ते नालों की भभक भीतर आती जा रही थी। उसका मन किया कि कहे,

शीशा चढ़ा लो, पर ख़ैर…

'ओ जानेमन ये हुसन तेरा—' रान खुजाता एक मटमैला छोकरा एक गली से निकला और एक अश्लील ढंग से उसे आंख मारकर एक ढाबे में घुस गया। अभी गधे की मर्में ही भीग रही थीं। आवाज भी अजीब फटी-फटी-सी थी पर उसकी आंखों में वह एक खास वहशियत झांक रही थी जो अंधेरी गली के नुक्कड़ से रेलवे प्लेटफार्म की रेलपेल तक में भी एक औरत को कुहनी मार जा सकती है, और उसकी मजाल नहीं हो कि वह चूं भी कर सके। रजनी को लगा जैसे उसपर कोई बाल्टी-भर कीचड़ डाल गया हो। उसने शीशा चढ़ा लिया। शहर शुरू हो गया था।

२

मेज पर कुछ पुराने अखबार पड़े थे और दो-तीन लिफाफे। एक चिट्ठी मां की थी, एक बिल और एक निमंत्रण। एक रंगीन पिक्चर पोस्ट-कार्ड था, बिल्लो का। उसने पलटकर पता देखा, ज्यूरिख के किसी होटल से लिखा गया था। वह मां की चिट्ठी खोलकर पढ़ने लगी। इधर जब से पापा रिटायर हुए हैं, मां-पापा गर्मी शुरू होते ही पहाड़ चले जाते हैं।

"पानी लोगी?" उदय ने ठण्डे पानी का गिलास उसकी ओर बढ़ा दिया था। उसने बगैर पत्र से आंखें उठाए गिलास थाम लिया। "…यहां आकर बार-बार हमें तुम्हारा ही ख्याल आता है—तुम्हें गर्मी की एकदम आदत नहीं है। न हो तो कुछ हफ्तों को यहां आ जाओ, इतना बड़ा घर एकदम खाली पड़ा है। इस साल बिल्लो वगैरा भी नहीं…"

"क्या लिखा है?" उदय ने आत्मीयता से खत झपट लिया।

"कुछ खास नहीं, पढ़ लो।" वह अलमारी से धुले कपड़े निकालने लगी। घूम-घामकर वापस लौटो तो परिचित काम भी अच्छे लगते हैं, एक सुरक्षित ठहराव का अहसास देते हुए। वह गुनगुनाती हुई नहाने लगी।

"आज शाम साढ़े आठ बजे बी०एम० के घर डिनर है।" उदय हजा-

मत बना रहा था।

"अच्छा" भीगा तौलिया टांगकर वह रसोई की ओर मुड़ गई।

"खाना जल्दी लगवा देना, मुझे अभी जाना है।"

गोपालसिंह सफाई से रसोई में धनिया कतर रहा था। उसकी कार्यकुशलता के सामने रजनी हमेशा खुद को फूहड़ महसूस करती जाती थी। वह पिछले सात सालों से उदय के साथ था। यानी देखा जाए तो अनुभव के लिहाज से उससे कई साल सीनियर। साहब को क्या खाना पसन्द है, सफर के लिए उन्हें क्या-क्या साथ ले जाना है, कब क्या खाना बनेगा, यह सब निर्णय दो-चार रस्मी औपचारिकताओं के अलावा उसी-पर छोड़ दिए जाते थे। रजनी ने भी इस व्यवस्था का विरोध नहीं किया। शायद आलस रहा हो या संकोच। उसकी बड़ी बहन बिल्लो के घर में मजाल थी कि उसके हुक्म के बगैर पत्ता भी खड़क जाए। हालांकि खुद अपने हाथ से वह कोई काम नहीं करती थी, पर निगरानी उसकी सब-पर रहती। कई बार तो नौकरानी को पुकारते हुए उसकी दबंग आवाज की हिकारत के सामने रजनी खुद को एक अजीब-से संकोच से सिकुड़ती पाती। पर उसके नौकरानी को स्पष्ट ही इससे कोई उलझन नहीं होती थी या शायद जब होने लगती तो वे चट से तबदील कर दी जाती थीं। इन छोटे लोगों को ज़्यादा सर चढ़ाना ठीक नहीं। उसकी मां का भी यही कहना था। शायद हमेशा की तरह वे ही लोग सही थे और वह गलत।

"सब ठीक है?" उसने रटी हुई-सी मुस्कान दी।

"जी साब।" अल्पभाषी गोपालसिंह ने गैस पर चढ़ी एक पतीली में पकता कुछ कड़छी से हिलाया और फिर नल के नीचे सलाद धोने लगा।

"साहब को आधे घंटे में आफिस जाना है, खाना तैयार है न?"

"जी साब।"

कुछ देर वह असमंजस में यूं ही एक पैर से दूसरे पैर पर वज़न तौलती खड़ी रही, फिर मुड़ गई। उसे कभी लगने लगता है कि अपनी ज़िम्मे-दारियों से कतराते-कतराते उसने अपने-आपको एकदम व्यक्तित्वहीन

बना डाला है। शायद उसे इस सबपर कुछ ज़्यादा नियंत्रण रखना चाहिए। पर कैसे? गोपालसिंह के काम में उसे तो कोई खास खामी नज़र नहीं आती थी, और सिर्फ़ एक ज़िद में उसे हटाना या बेवजह नुक्स निकालना उसे बहुत भद्दा-सा लगता है। बहरहाल, वह चन्द चालू, कामचलाऊ वाक्यों में ही काम चला लेती थी।

अपने को बेहद फ़ालतू महसूस करती हुई थोड़ी देर वह खिड़की पर खड़ी रही। यूं देखा जाए तो घर के दैनिक कामकाज को चलाने के लिए उसकी उपस्थिति कोई खास ज़रूरी नहीं थी। उदय अपने सभी निजी काम खुद खासी पटुता से कर सकता था, घर का बाकी गोपालसिंह निभा ही देता था। झाड़-पोंछ को एक चुप्पी-सी मदरासन अलस्सुबह आ जाती थी और घण्टे-भर के बीच सब कर-करा चल देती थी। वह क्या करे? उदय का कहना था कि इसमें सोच-विचार की ज़रूरत ही क्या थी भला? यह सब तो होता ही रहेगा, वह अपने बारे में कुछ करे। कुछ भी। बाहर जाए, पढ़ाई करे, कुछ खास काम हाथ में ले ले, वर्ना इस तरह घर में बैठे-बैठे तो···इसी खौफ़नाक 'तो' पर ही आकर सबके तर्क रुक जाते थे, चाहे मां हो या उदय। मां के लिए घर की देहरी एक अनुल्लंघनीय सच थी, जिसके भीतर का सब उसका राजपाट था, पर जहां उसने बाहर का हाथ में लिया और यह सब छोड़ा तो···। एक अपरिहार्य दुःखद अन्त की खौफ़नाक धमकी से भरा यह 'तो' सब कोई उसपर लटकता छोड़कर चल देते थे। शुरू में उसे इन उलझनों की संभावना का कतई गुमान न था। उसका सापेक्ष अस्तित्व घर और घरवाले के प्रति था, बस, इस सोच से तर्क की सुदृढ़ सुरक्षा में उसे बचपन से ही मढ़ दिया गया था और उदय की बेलाग तार्किकता ने उसमें दरार डाल दी थी जो दिन पर दिन चौड़ा रही थी। "तुम्हें दिन-भर खाली बैठे, बिना अपने लिए कुछ किए कोई हैरत या परेशानी नहीं होती क्या?"

रजनी ने गीले बालों की लट कान के पीछे खोंस ली और खिड़की पर पर्दे खींच दिए। आज वह किसीके घर मिलने को चली जाएगी, वर्ना घर

में बैठे-बैठे दिन-भर…

"आज तुम दिन में क्या करोगी ?"

रजनी ने चप्पल के भीतर उंगलियां सिकोड़ लीं। प्रश्न के भीतर दबे सपाट आत्मीय अभियोग से हमेशा उसके कांटे खड़े हो जाते हैं।

"खाव, खाना।" वह मन ही मन गोपालसिंह के प्रति कृतज्ञ हुई।

"बिल्लो ने क्या लिखा है?" उदय ने कुर्सी पर बैठकर उसकी ओर ताका।

"कुछ खास नहीं, एक पिक्चर पोस्टकार्ड-भर है ज्यूरिख से।"

"कब तक रहेंगे ?"

"पता नहीं, अभी तो सितम्बर तक बच्चों की छुट्टियां होंगी।"

"मां की चिट्ठी के बारे में क्या सोचा है ?"

"क्या करना है दो-तीन हफ्ते-भर को जाकर ?" रजनी ने पानी का लम्बा घूंट लिया, "गर्मी तो लौटकर भी लगेगी ही।"

"तो फिर दो-चार महीने को चली जाओ। वे लोग तो सितम्बर से पहले पहाड़ों से नहीं उतरते।"उदय ने चम्मच उठा लिया। क्या उदय के स्वर में व्यंग्य की बू थी ? उसने ऊपर ताका। उदय निर्विकार भाव से खा रहा था। पता नहीं शायद वही अपने घरवालों के लिए उसके रुख को लेकर ज़रूरत से ज़्यादह सजग है। कई बार वह तय नहीं कर पाती कि उनके प्रति उदय की भावहीन बेरुखी स्वाभाविक है कि…

"हटाओ भी। क्या करना है जाकर, बिल्लो वगैरह भी तो नहीं होंगी इस बार।"

अनमनी होते हुए भी उसने देखा कि उदय की आंखों में संतोष या तृप्ति-सा कुछ झलका या शायद उसीका भ्रम था। एक बार उसका मन हुआ कि कह दे,'हां जाऊंगी।' पर यह एक अजीब बचकानी ज़िद-भर होती,नहीं?

"तुम्हारी मर्ज़ी।" उदय ने कौर मुंह में डाला। थोड़ी देर चुप्पी रही।

"सोचती हूं आज दिन में कहीं मिल आऊं। कार खाली है ?"

"हो आओ। मैं ड्राइवर को भेज दूंगा। कब तक भेजूं ?"

"यही, ग्यारह तक ?" उसने ऊपर ताका, "ठीक है ?"

"नहीं, गलत है।" उदय मुस्करा रहा था। वह भी हंस पड़ी।

"तुम जो जरूरत से ज्यादा नरमाई और विनय दिखाती हो न, कभी-कभी हंसने काबिल लगता है। गाड़ी मंगवानी है तो मांग लो, खाली नहीं होगी तो तुम्हें बता दूंगा। इतनी झिझक और डर लेकर तो तुम कभी कुछ नहीं कर सकोगी, समझीं ?" उदय ने पानी का घूंट लिया। "जाना कहां है ?"

"बुआ जी के घर। सोच रही थी, मां भी लिखती रहती हैं कि हो आना।"

"धूप काफी है।"

"हां, पर फिर घर में बैठे-बैठे भी तो···" रजनी ने आतंक में बात अधूरी ही छोड़ दी। अब उदय फिर चालू हो जाएगा उसके दिमागी आलस और नैराश्यवादिता पर। क्या जरूरत थी यह कहने की ?

पर उदय ने कुछ नहीं कहा, कुर्सी खिसकाकर उठ गया। वह पता नहीं क्यों, रुआंसी हो आई।

बालों पर ब्रश फेरते-फेरते उसे ख्याल आया कि बुआ जी उसके कटे बालों को देखकर आदतन जरूर कुछ कहेंगी। ड्राअर से एक रबरबैण्ड निकालकर उसने बाल पीछे बांध लिए। यूं उनसे कोई खास करीबी रिश्ता तो था नहीं पर घर से इतनी दूर रिश्तेदार के नाम पर बस यही थीं। अचानक उसका मन किया कि न जाए। मां और पिता की धुनी सामाजिकता की आड़ लेकर वह बचपन से ही रिश्तेदारों और रिश्तेदारियों की औपचारिकताओं से बचती आई थी, और अब कभी अगर अकेले में उन सबसे मिलने का मौका आता है तो उसे बड़ी घबराहट होने लगती है। जाने कौन कब क्या कह बैठेगा ? थोड़ी देर वह यूं ही बैठी आइने में अपनी परछाईं को ताकती रही। "क्यों ? जाऊं ?" उसने होंठ गोल किए। परछाईं हंस पड़ी। हुंह, उसे ...

चाभी रखी और गोपालसिंह को जरूरी निर्देश देकर सीढ़ियां उतर आई।

धूप तेज़ होगी, यह तो उसे पता था, पर इतनी तेज होगी यह वह उस ठण्डे कमरे में कुछ ही घण्टे रहकर भूल गई थी। उसने धूप का चश्मा चढ़ा लिया और कार में बैठ गई।

बुआ जी के घर का दरवाजा बन्द नहीं था; बस, उढ़का-भर दिया गया था। पुरानी चाल का हवेलीनुमा घर था। एक अजीब-से चटक नीले रंग में पुते खिड़की-दरवाजे, पुरानी बेलदार नक्काशियों से कहीं भी मेल नहीं खाते थे। बाहर कुछ सूखे झाड़ों पर चन्द बकरियां मुंह मार रही थीं। इस भांय-भांय चलती लू में बाहर दिखता भी कौन? सारे घर पर गर्मियों की सन्नाटा-भरी उदासी और रहने वालों की सपाट जिन्दगी की परछाईं-सी झीनी धूल की चादर पड़ी थी। वह कुछ देर असमंजस में बाहर ही खड़ी रही, फिर बगैर कुण्डी खड़काए यूं ही भीतर घुस गई। पहले दो-तीन कमरे पार करने पर भी भीतर कोई नज़र न आया तो वह कुछ सहमी-सी।

"बुआ जी!" उसने गला धीरे से खंखारा।

"अरे कौन है? अरी सीला, देखियो ज़रा…" भीतर से कोई गुहार आई। वह खड़ी रही। बगल का दरवाजा खुला।

"अरे जीजी, आप!" बुआ जी की बड़ी लड़की शीला आंखें मलती खड़ी थी। शायद सोते से उठकर आई थी। इस गर्मी में नींद? उसने चलते-चलते रश्क से सोचा।

"आइए जीजी, इधर ड्राइंगरूम में आइए। अम्मा चौके में हैं, अभी आती हैं।" शीला के हाथ छिपे-छिपे अपने तंग कपड़ों की सलवटें दुरुस्त कर रहे थे।

"बुआ जी कहां हैं? मैं वहीं चली जाती हूं।" वह बाहर निकल आई। शीला शायद इसके लिए प्रस्तुत न थी। वह कुछ अप्रतिभ-सी हो गई। बाहर आंगन में बुआ जी एक टोकरे में कच्चे आमों के टुकड़े

समेट रही थीं। पास में एक टोकरी में कुछ साबुत आम और एक विराट सरौतानुमा यंत्र रखा था जिससे शायद आम काटे जाते होंगे।

"अरे तू है रजनी ! आज कैसे भूल पड़ी इधर ?" बुआ जी की छोटी-छोटी मुरौंट आखों ने उसका नख-शिख मुआयना किया।

"अरी बाहर गर्मी में काहे ले आई इन्हें ? अन्दर बिठाओ ड्राइंग रूम में। तुम दोनों चलो, मैं अभी आई। अरी महरी, मुनियो, ये टोकरे समेट लीजो, सुनी !" बुआ जी ने मलगजी साड़ी पर हाथ पोंछे। "अचार की सोंधी थी आज। इस साल आमों की भी अच्छी फसल नहीं हुई। क्याऽ ऐसे ही सब···।"

रजनी को लगा जैसे स्वर के चिड़चिड़ेपन में उसके लिए अकारण उलाहना है, जैसे फसल खराब होने का कारण वही हो। वह कुछ रुआंसी हो आई।

"आप काम पूरा कर लीजिए ना। मैं तब तक शीला-शान्ता के साथ बैठती हूं।"

"फिर होता रहेगा।" बुआ जी ने धोती के पल्लू से गर्दन का पसीना सुखाया। "मारे घमौरियों के मुसीबत है। तू चल भीतर, मैं अभी आई।"

इसके बाद तो बाहर रुकने की गुंजाइश ही कहां रह जाती थी। वह चुपचाप शीला के साथ भीतर चली आई। बैठकखाना एक बड़ा हालनुमा कमरा था और ऊंची छत के कारण अपेक्षाकृत ठण्डा भी। उसने पर्स एक ओर रख दिया और बैठ गई।

"और सुनाओ शीला, कैसा चल रहा है ? शान्ता कहां गई है ?"

शीला गौर से उसकी वेशभूषा का मुआयना कर रही थी। "ठीक ही है। बोर हो रहे हैं और क्या ? शान्ता सो रही थी, आती होगी।"

"कालेज तो आजकल बन्द होगा ?"

"तभी तो और भी बोरियत है।" शीला के नींद से फूले-फूले चेहरे पर रूठने का एक फिल्मी भाव आया। रजनी को लगा कि उसकी सारी अदाएं और बातचीत किसी न किसी अभी या पहले की देखी फिल्मों पर

चाभी रखी और गोपालसिंह को जरूरी निर्देश देकर सीढ़ियां उतर आई।

धूप तेज होगी, यह तो उसे पता था, पर इतनी तेज होगी यह वह उस ठण्डे कमरे में कुछ ही घण्टे रहकर भूल गई थी। उसने धूप का चश्मा चढ़ा लिया और कार में बैठ गई।

बुआ जी के घर का दरवाजा बन्द नहीं था; बस, उढ़का-भर दिया गया था। पुरानी चाल का हवेलीनुमा घर था। एक अजीब-से चटक नीले रंग में पुते खिड़की-दरवाजे, पुरानी बेलदार नक्काशियों से कहीं भी मेल नहीं खाते थे। बाहर कुछ सूखे झाड़ों पर चन्द बकरियां मुंह मार रही थीं। इस भांय-भांय चलती लू में बाहर दिखता भी कौन? सारे घर पर गर्मियों की सन्नाटा-भरी उदासी और रहने वालों की सपाट जिन्दगी की परछाईं-सी झीनी धूल की चादर पड़ी थी। वह कुछ देर असमंजस में बाहर ही खड़ी रही, फिर बगैर कुण्डी खड़काए यूं ही भीतर घुस गई। पहले दो-तीन कमरे पार करने पर भी भीतर कोई नजर न आया तो वह कुछ सहमी-सी।

"बुआ जी!" उसने गला धीरे से खंखारा।

"अरे कौन है? अरी सीला, देखियो जरा…" भीतर से कोई गुहार आई। वह खड़ी रही। बगल का दरवाजा खुला।

"अरे जीजी, आप!" बुआ जी की बड़ी लड़की शीला आंखें मलती खड़ी थी। शायद सोते से उठकर आई थी। इस गर्मी में नींद? उसने चलते-चलते रश्क से सोचा।

"आइए जीजी, इधर ड्राइंगरूम में आइए। अम्मा चौके में हैं, अभी आती हैं।" शीला के हाथ छिपे-छिपे अपने तंग कपड़ों की सलवटें दुरुस्त कर रहे थे।

"बुआ जी कहां हैं? मैं वहीं चली जाती हूं।" वह बाहर निकल आई। शीला शायद इसके लिए प्रस्तुत न थी। वह कुछ अप्रतिभ-सी हो गई। बाहर आंगन में बुआ जी एक टोकरे में कच्चे आमों के टुकड़े

"हां, वो लोग वहीं हैं।"

बुआ जी ने नाखूनों पर से कुछ खुरचा।

"देख तो मान्ता, चाय का पानी खौल गया होगा, चाय-नाश्ता ले आना अच्छे से लगा के। ले!" एक भद्दे फूहड़पने से उन्होंने तालियों का एक गुच्छा उसकी ओर उछाल दिया।

रजनी ने प्रतिवाद में खंखारने की चेष्टा की, "इतनी गर्मी में क्या तकल्लुफ़..."

"अरी कौन छप्पन पकवान खिला रहे हैं, हम गरीबों की रूखी-सूखी ही तो है।" रजनी की शिराएं फिर सख्त होने लगी थीं। घर में घुसते ही मकड़ी के अदृश्य जाले की तरह आ लिपटा बदरंग परायापन क्षण-क्षण और भी चिपचिपा और तकलीफ़देह होता जा रहा था। उसने प्रसंग बदलना चाहा। "फूफा जी नहीं हैं?"

"आज मिश्रा जी के यहां गए थे खाने पर, आते होंगे।" थोड़ी देर चुप्पी रही। कमरे में गर्मी और नींद की पर्तें-सी जमी हुई थीं। रोशनदान के कांचों पर भी हरा कागज़ चिपका दिया गया था। दरवाज़े-खिड़कियां बदरंग नीले पर्दों से ढके थे। कमरे में व्याप्त सील-भरी गंध से लगता था कि वह कभी-कभी ही खोला जाता रहा होगा। दीवारों पर टंके दो साल पुराने कैलेंडर, टेढ़ी कतार से लगी बड़ी-छोटी काठ की बत्तखें, पीली-धूल-अंटी दीवार-घड़ी—सब चीज़ें मानो रखे-रखे सो गई थीं। छत पर टंगा एक पुराना सीलिंग फ़ैन डरावनी आवाज़ें करता हिचकोले ले रहा था। रजनी को पंखे की चर्र-चूं भी बेहद थकी और उनींदी लगी। उसने यत्न से उमड़ती जम्हाई जबड़ों में ही रोक ली।

"शीला-शान्ता किस-किस क्लास में हैं अब?"

"एक बारहवीं में है, एक ग्यारहवीं में।"

"कहां पढ़ती हैं?"

"यहीं पास में लड़कियों का स्कूल है, वहीं जाती हैं। यूं हमें तो लड़कियों को ज्यादा पढ़ाना पसन्द नहीं, पर आजकल सब पढ़ी-लिखी

आधारित हों।

"कम से कम कालेज में दो-चार सहेलियों से तो मिल लेते थे—अब तो वो भी बन्द है। कभी, बस, खुशामद से भैया ने फिल्म दिखा दी तो बस, वर्ना पड़े-पड़े झख मारते हैं। भैया की ही मौज है, बस सायकिल उठाई और चल दिए, कोई पूछता भी नहीं कुछ। इस वक्त भी मैटिनी शो देखने गए हैं।"

"नमस्ते जीजी," शान्ता कमरे में आ गई थी। उसके यत्न से पहने गए कपड़े अभी-अभी बदले लगते थे। काजल की मोटी रेखा से आंखों में मद्रासी अभिनेत्रियों का-सा औचक हिरनी वाला कटाक्ष लाने की भरसक चेष्टा की गई थी। शीला-शान्ता दोनों के तंग कपड़ों से लगता था कि बुआ जी-फूफा जी के अनुशासन को शायद कपड़ों के मामले में काफी ढील दे दी जा चुकी थी, हालांकि जिस काट की चुस्त कमीजें और पाजामे दोनों बहनों ने चढ़ाए हुए थे अब फैशन में थे भी नहीं। उनके आवश्यकता से ज्यादा गदराये शरीरों पर वे चुस्त लिबास और भी ज्यादा कसे-कसे और फूहड़ लग रहे थे।

"उठ गई?" रजनी कुछ हंसी, पर लगा कि शान्ता कुछ कुढ़-सी गई। उसने बड़ी बहन की ओर इशारा किया, "इन्होंने कहा होगा। खुद भी तो खर्राटे ले रही थीं।"

रजनी ने कुछ अप्रतिभ होकर बात संभालने की चेष्टा की, "तो क्या हुआ? इतनी लम्बी दोपहर वर्ना कैसे कटेगी?" पर्दा हिला तो वह चुप हो गई।

पर्दा हटाकर बुआ जी भीतर आईं। रजनी ने नोट किया कि उन्होंने भी धोती बदल ली थी। अचानक उसने अपने को बहुत बेगाना महसूस किया। शायद न आती तो बेहतर था, पर अब सोचने से क्या फायदा?

"पहाड़ नहीं गईं तुम इस बेर? आनन्द भैया-भाभी तो गए होंगे?" बुआ जी एक निखालिस कस्बाई मुद्रा में जांघों के बीच धोती उड़सती तख्त पर बैठ गईं।

"हां, वो लोग वहीं हैं।"

बुआ जी ने नाखूनों पर से कुछ खुरचा।

"देख तो मान्ता, चाय का पानी खौल गया होगा, चाय-नाश्ता ले आना अच्छे से लगा के। ले !" एक भद्दे फूहड़पने से उन्होंने तालियों का एक गुच्छा उसकी ओर उछाल दिया।

रजनी ने प्रतिवाद में खंखारने की चेष्टा की, "इतनी गर्मी में क्या तकल्लुफ..."

"अरी कौन छप्पन पकवान खिला रहे हैं, हम गरीबों की रूखी-सूखी ही तो है।" रजनी की शिराएं फिर सख्त होने लगी थीं। घर में घुसते ही मकड़ी के अदृश्य जाले की तरह आ लिपटा बदरंग परायापन क्षण-क्षण और भी चिपचिपा और तकलीफदेह होता जा रहा था। उसने प्रसंग बदलना चाहा। "फूफा जी नहीं हैं ?"

"आज मिश्रा जी के यहां गए थे खाने पर, आते होंगे।" थोड़ी देर चुप्पी रही। कमरे में गर्मी और नींद की पर्तें-सी जमी हुई थीं। रोशनदान के कांचों पर भी हरा कागज चिपका दिया गया था। दरवाजे-खिड़कियां बदरंग नीले पर्दों से ढके थे। कमरे में व्याप्त सील-भरी गंध से लगता था कि वह कभी-कभी ही खोला जाता रहा होगा। दीवारों पर टंगे दो साल पुराने कैलेंडर, टेढ़ी कतार से लगी बड़ी-छोटी काठ की बत्तखें, पीली-धूल-अंटी दीवार-घड़ी—सब चीजें मानो रखे-रखे सो गई थीं। छत पर टंगा एक पुराना सीलिंग फैन डरावनी आवाजें करता हिचकोले ले रहा था। रजनी को पंखे की घरं-घूं भी बेहद थकी और उनींदी लगी। उसने यत्न से उमड़ती जम्हाई जबड़ों में ही रोक ली।

"शीला-शान्ता किस-किस क्लास में हैं अब ?"

"एक बारहवीं में है, एक ग्यारहवीं में।"

"कहां पढ़ती हैं ?"

"यहीं पास में लड़कियों का स्कूल है, वहीं जाती हैं। यूं हमें तो लड़कियों को ज्यादा पढ़ाना पसन्द नहीं, पर आजकल सब पढ़ी-लिखी

लड़की ही मांगते हैं सो भेज दीं।" मानो लड़कियां आलू के बोरे हों, जिस गोदाम-तहखाने में चाहो पटक दो।

"तो फिर और आगे पढ़ाइएगा ?"

"नाऽऽहीं।" बुआ जी ने गौतम बुद्ध की मुद्रा में पंजा फैलाया। "लड़के-लड़कियों का साथ-साथ कालिज में पढ़ना हमें कतई पसंद नहीं। आग-घी का साथ क्या ? ज्यादा की हैसियत होती तो तुम्हारी बिल्लो की तरह अंगरेजी लड़कियों के कालिज भेजते, पर सो तो है नहीं।"

रजनी ने साड़ी के पल्ले से एक धागा खींच लिया था, उंगली में लपेटने लगी।

"शादी की बात चल रही है कहीं ?"

"हां ऽ, खास नहीं···" बुआ जी चुप हो गईं। रजनी को लगा शायद उसे यह नहीं पूछना चाहिए था। फिर वही बात का कोई सूत्र तलाशने की बेचैनी। बुआ जी के लड़के का नाम ही याद नहीं आ रहा था वर्ना उसके बारे में पूछ लेती। उसे हल्की-सी याद है कि कभी उसकी बेकारगी या बेचारगी को लेकर घर में कुछ बात हुई थी। पापा से किसी नौकरी के लिए उसकी सिफारिश को कहा गया था शायद। पर उनका कहना था कि लड़के की कोई भी ऐसी विशेषता नहीं जिसे गिनाकर वे उसका केस प्रमोट कर सकें। शायद बुआ जी की रुखाई का एक कारण यह भी हो। पता नहीं यह चाय कब आएगी, उसने कसमसाकर सोचा।

"तू यहां का बैठी है, सीला का हाथ बंटवा दे ना।" बुआ ने शान्ता को इशारा किया। शान्ता काफी स्पष्ट अनिच्छा से उठी, फिर एक ज़िद्दी झटके से कूल्हे हिलाती चल दी। शायद वह न होती तो मां-बेटी में झड़प हो जाती, उसे बुआ जी की त्योरियां देखकर लगा।

"दिनेस सनीमा गए हैं।" बुआ जी ने खुद ही कहा। दिनेश ! हां यही तो नाम था। दुबला, निष्प्रभ चेहरा, मोटा चश्मा और तोते की-सी नाक—एकदम फूफा जी का युवा रूप।

"किस क्लास में है ?"

"एमेर्स्ट्री में है। गए माल फिर पर्चा बिगड़ गया था।" बुआ जी ने एक बिवाईदार पैर से दूसरा पैर खुजाया। उसे फिर जोरों से जम्हाई आने लगी। जाने दोनों बहनें ताली लेकर कहाँ अलोप हो गई थीं ?

"और कहो!" बुआ ने जूड़ा समेटते हुए उसे प्रश्नसूचक निगाहों से देखा। स्वर कुछ धीमा हुआ, "पीली लग रही हो, कुछ है क्या ?" प्रश्न की थोड़ी आत्मीयता से रजनी के भीतर कहीं कुछ दिदक गया।

"नहीं तो,"उसका स्वर जरूरत से ज्यादा रूखा था क्या ? उसने नर्मी लाने की चेष्टा की, "गर्मी से ही वैसा हो शायद।" अब की उसे लगा कि स्वर में दयनीयता ही ज्यादा थी। उसे अपने पर गुस्सा आने लगा।

"हाँ, वैसे तो आजकल तुम लोग जल्दी लिपत में फसना नहीं चाहते। हमारे जमाने में तो साल पीछे गोद नहीं भरी तो···" बुआ जी ने अगूठे से गाल खुजलाया। तब फिर इन्हें पूछने की क्या पड़ी थी भला ? बाहर किवाड़ खड़काए जाने की आवाज आई।

"ये होंगे" बुआ जी ने जांघों पर हाथ रखकर बदन तौला और उठकर लसर-पसर बाहर चली गईं। रजनी को बेहद नींद आ रही थी। उसे अपना ठण्डा सुकून-भरा कमरा याद आया। काश, इसी तख्त पर पसर कर सो सकती!

रूमाल से चेहरा पोंछते फूफा जी कमरे में घुसे। "हल्लो जी, कब आईं ? बैठो-बैठो। अरे भई, कुछ नाश्ता-पानी मंगाओ रजनी के लिए।"

"ला रही है सीला-सान्ता" बुआ जी का स्वर झगड़ालू ढंग से नककी हुआ। "तुम्हें बड़ी देरी हो गई ?"

"हा ऽ; जरा बैठ गए थे।" फूफा जी ने झड़प के आमन्त्रण को सफाई से टालते हुए, अधिकार से हांक लगाई, "जरा पानी लाना।" फिर प्रभाव परखने के लिए कनखियों से उन्होंने रजनी की ओर ताका। उनके ढीले-ढाले दुबले शरीर पर अचानक ही एक तोंद निकल आई थी और कमर से नीचे का भाग फैलकर रह गया था। सुग्गे-सी नाक तले मूँछों की एक पतली रेख थी, जैसे कोई कनखजूरा लेटा हो। छोटी-छोटी आँखों

ही मांगते हैं सो भेज दीं।" मानो लड़कियां आलू के बोरे हों, जिस
-तहखाने में चाहो पटक दो।

"तो फिर और आगे पढ़ाइएगा ?"

"नाऽऽहीं।" बुआ जी ने गौतम बुद्ध की मुद्रा में पंजा फैलाया।
ड़के-लड़कियों का साथ-साथ कालिज में पढ़ना हमें कतई पसंद नहीं।
ग-घी का साथ क्या? ज्यादा की हैसियत होती तो तुम्हारी बिल्लो
तरह अंगरेजी लड़कियों के कालिज भेजते, पर सो तो है नहीं।"

रजनी ने साड़ी के पल्ले से एक धागा खींच लिया था, उंगली में
लपेटने लगी।

"शादी की बात चल रही है कहीं ?"

"हां ऽ, खास नहीं..." बुआ जी चुप हो गईं। रजनी को लगा शायद
उसे यह नहीं पूछना चाहिए था। फिर वही बात का कोई सूत्र तलाशने
की बेचैनी। बुआ जी के लड़के का नाम ही याद नहीं आ रहा था वर्ना
उसके बारे में पूछ लेती। उसे हल्की-सी याद है कि कभी उसकी बेकारगी
या बेचारगी को लेकर घर में कुछ बात हुई थी। पापा से किसी नौकरी
के लिए उसकी सिफारिश को कहा गया था शायद। पर उनका कहना
था कि लड़के की कोई भी ऐसी विशेपता नहीं जिसे गिनाकर वे उसका
केस प्रमोट कर सकें। शायद बुआ जी की रुखाई का एक कारण यह भी
हो। पता नहीं यह चाय कब आएगी, उसने कसमसाकर सोचा।

"तू यहां का बैठी है, सीला का हाथ बंटवा दे ना।" बुआ ने शान्ता
को इशारा किया। शान्ता काफी स्पष्ट अनिच्छा से उठी, फिर एक जिद्दी
झटके से कूल्हे हिलाती चल दी। शायद वह न होती तो मां-बेटी में झड़प
हो जाती, उसे बुआ जी की त्योरियां देखकर लगा।

"दिनेस सनीमा गए हैं।" बुआ जी ने खुद ही कहा। दिनेश!
यही तो नाम था। दुबला, निष्प्रभ चेहरा, मोटा चश्मा और तोते की-
नाक—एकदम फूफा जी का युवा रूप।

"किस क्लास में है ?"

"एमेस्सी में है। गए साल फिर पर्चा बिगड़ गया था।" बुआ जी ने एक बिवाईदार पैर से दूसरा पैर खुजाया। उसे फिर ज़ोरों से जम्हाई आने लगी। जाने दोनों बहनें ताली लेकर कहाँ अलोप हो गई थी?

"और कहो!" बुआ ने जूड़ा समेटते हुए उसे प्रश्नसूचक निगाहों से देखा। स्वर कुछ धीमा हुआ, "पीली लग रही हो, कुछ है क्या?" प्रश्न की भोंडी आत्मीयता से रजनी के भीतर कहीं कुछ बिदक गया।

"नहीं तो," उसका स्वर ज़रूरत से ज़्यादा रूखा था क्या? उसने नर्मी लाने की चेष्टा की, "गर्मी से ही वैसा हो शायद।" अब की उसे लगा कि स्वर में दयनीयता ही ज़्यादा थी। उसे अपने पर गुस्सा आने लगा।

"हां, वैसे तो आजकल तुम लोग जल्दी लिपत में फंसना नहीं चाहते। हमारे ज़माने में तो साल पीछे गोद नहीं भरी तो···" बुआ जी ने अंगूठे से गाल खुजलाया। तब फिर इन्हें पूछने की क्या पड़ी थी भला? बाहर किवाड़ भड़काए जाने की आवाज़ आई।

"ये होंगे" बुआ जी ने जांघों पर हाथ रखकर बदन तौला और उठकर लसर-पसर बाहर चली गई। रजनी को बेहद नींद आ रही थी। उसे अपना ठण्डा सुकून-भरा कमरा याद आया। काश, इसी तख्त पर पसर कर सो सकती!

रूमाल से चेहरा पोंछते फूफा जी कमरे में घुसे। "हल्लो जी, कब आईं? बैठो-बैठो। अरे भई, कुछ नाश्ता-पानी मंगाओ रजनी के लिए।"

"ला रही हैं सीला-सान्ता" बुआ जी का स्वर झगड़ालू ढंग से नक्की हुआ। "तुम्हें बड़ी देरी हो गई?"

"हां ऽ; ज़रा बैठ गए थे।" फूफा जी ने झड़प के आमन्त्रण को सफाई से टालते हुए, अधिकार से हाक लगाई, "ज़रा पानी लाना।" फिर प्रभाव परखने के लिए कनखियों से उन्होंने रजनी की ओर ताका। उनके ढीले-ढाले दुबले शरीर पर अचानक ही एक तोंद निकल आई थी और कमर से नीचे का भाग फैलकर रह गया था। मुग्गे-सी नाक तले मूंछों की एक पतली रेख थी, जैसे कोई कनखजूरा लेटा हो। छोटी-छोटी आंखों

गोल चेहरे पर एक ऐसी दीन प्रसन्नता छाई थी जैसे हर वक्त किसी
क पर हंसने को तत्पर हो । रजनी को उनकी पनियाली आंखें देख-
पता नहीं क्यों रेस्ट हाउस के कुत्ते की याद आ गई । 'याक् ।' उसने
र झटकारा "बड़ी गर्मी है ।"

"हूं ।" फूफा जी ने बुआ के हाथ से गिलास लेकर लम्बा-सा घूंट
लया । "तुम्हें तो इसकी एकदम आदत भी नहीं होगी । क्या नाम, हमेशा
ामियों में पहाड़ ही चले जाते थे तुम सब । इस बार नहीं गईं ?"

"नहीं, इस बार नहीं ।"

"वैसे पूछना क्या, एयरकंडीशनर तो होगा ही, उदय इतने सा
बाहर रहे हैं, साथ में लाए ही होंगे ।"

उसने कहना चाहा कि एयरकंडीशनर तो है ही नहीं पंखा भी
खालिस हिन्दुस्तानी है, फिर चुप रही । क्या जरूरत इस सबमें पड़ने की ।

"हां, इनका क्या, सब सम्पदा घर में ही ठहरी । सामान-वस्त हो तो
पहाड़ जैसी ठण्डक में यहीं रह लो । वहां जाकर क्या करना ?" बुआ जी
सरौते से छाली कतर रही थीं ।

"खैर, आनन्द भैया की दोनों लड़कियां जैसे घर से आईं, वैसे ही घरों
में गईं, हमें तो खुशी ही है ।" बुआ जी ने निःश्वास छोड़ी । "वैसे ऐसे ही
टैम लड़का काम आता । लड़कियां तो ब्याह के अपने-अपने घर की हुईं ।
हम तो सालों तक भैया से कहते रहे कि भगवान की दया हो तो क्या पता
तीसरी बार लड़का, पर उनकी जिद्द थी कि बस दो ही चाहिए । खैर,
राजी-खुशी रहें सब; हां, अकेले उन्हें खूब लगता होगा । दामाद लाख
हो, हुए तो पराये ही ।" उन्होंने हथेली फैलाकर फूफा जी को सुपारी
पेश की ।

उन्होंने एक दबी डकार छोड़ते हुए, कुछ कतरे उठा लिए । "उदय कैसे
हैं?"

"ठीक हैं ।" रजनी को अपना स्वर रुआंसा लगा ।

"अब तो सुना कम्पनी में और तरक्की पर पहुंच गए हैं । कहीं अ

बाहर जाने का इरादा है कि अभी यहीं रहेंगे ?"

"फिलहाल तो नहीं है।" रजनी के हाथ साड़ी में छोटी-बड़ी चुन्नटें डाल-बिगाड़ रहे थे।

"हां, वह तो बड़े, क्या नाम, आदर्श वाले हैं, वर्ना बाहर के पढ़े-लिखों को तो क्या नाम, अपने देश का अन्न-पानी फिर रास नहीं आता।" अपनी वक्तृता पर गद्‌गद होकर वे हंसे, फिर गंभीर हो गए।

"एक रिक्वेस्ट है हमारी बेटा, उदय से ज़रा कहना कि हमारे दिनेश के लिए जगह देखें कहीं। उसके तो, क्या नाम, बड़े अच्छे कनेक्शन हैं और भी कम्पनियों में, चार लोगों में ज़रा बात ही करें।"

"जी," रजनी का हलक सूख रहा था।

"हम तो चाहते थे कि लौंडा इंजीनियरी कर ले पर इसके हाल तो बस ऐसे ही हैं। दो साल से एमेस्सी में है, अब देखो इस बार क्या होता है ?"

बुआ जी ने तख्त के नीचे चप्पलें तलाशने को पांव डाले, "भाग्य ही खोटा है बेचारे का वर्ना कैसे-कैसे तो निकल जाते हैं। मदद के नाम कोई तिनका तोड़कर दो नहीं करता। कह सब देते हैं कि क्वालिफिकेशन नहीं है। अरे करना चाहें तो लोग यूं करा दें।" उन्होंने हवा में चुटकी-सी बजाई। इंगित शायद पापा के असहयोग के ही लिए था। रजनी की लवें सुर्ख हो गईं। अब वह चली ही जाएगी। भाड़ में जाए इनकी चाय। वह कोई बहाना तलाश ही रही थी कि पर्दा हिला और ट्रे और प्लेटों सहित शीला-शान्ता प्रकट हुईं। फूफा जी की खुशी वातावरण की कड़वाहट के बावजूद बरकरार थी। उचककर उन्होंने ट्रे में झांका, "यह क्या ? चाय ?" फूफा जी का बचकाना उत्साह रजनी को गड़ रहा था। "कोकाकोला, फैंटा कुछ मंगाती। क्या इतनी गर्मी में तुम भी…" बुआ जी ने बहुत अर्थपूर्ण नजर से देख-भर लिया पर बोलीं कुछ नहीं। रजनी खिसिया-सी गई। "अरे तुम लोगों ने तो बहुत कुछ कर डाला।" उसकी हंसी माफी-सी मांग रही थी। उत्तर में शीला-शान्ता ने रटी-रटाई मुस्कानें दीं और प्लेटें थमाने लगीं।

जैसे-तैसे चाय खत्म करके उसने सुपारी मुंह में डाल ली "अच्छा बुआ अब चलूंगी। काफी देर हो गई। अब आप लोग भी आराम करें।"

"अरे इस गर्मी में क्या आराम करना? आराम तो वे ही लोग कर सकते हैं जिनके पास साधन हों। अरी सान्ता, ये टिरे रसोई में रख देना और किवाड़ लगा देना, चितकबरी बिल्ली तुरत भीतर घुस आती है वर्ना।"

बुआ जी उठ खड़ी हुईं। फूफा जी की व्यस्त प्रसन्नता बरकरार थी। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि अपने हाथों का क्या करें। बार-बार वे दोनों हाथ मलते, फिर सीने पर उन्हें बांधकर बगल में मुट्ठियां दबा लेते। "क्या बताएं बेटा, कोई खातिर तुम्हारी नहीं कर पाए। सुदामा के, क्या नाम, तण्डुल ही सही, हें हें हें, अब कभी खाने को बुलाएंगे तुम्हें ठीक से। तुम्हारी बुआ जी, क्या नाम, दही-बड़े बहुत बढ़िया बनाती हैं—एक्सीलैण्ट।" उन्होंने हवा में हाथ नचाए।

"क्या बढ़िया! उन्हें तो रोज गोस-मच्छी खाने की आदत होगी। हमारा घासपात क्यों कर रुचेगा? अरी सीला, ये पंखा बन्द कर देना, मरा बिजली का बिल भरते-भरते मुसकिल हो जाती है वर्ना।" बुआ जी ने सरौता आले पर रख दिया और बाहर निकल आईं। लड़कियों ने बाहर आने का उपक्रम किया तो फूफा जी ने घूरकर देखा। "तुम लोग क्या करोगी इस धूप में, बाहर? यहीं से नमस्ते बाई-बाई कर लो।" शीला-शान्ता घबराकर लौट गईं। फूफा जी के आते ही दोनों को मानो सांप सूंघ गया था।

"आप बैठिए बुआ जी, धूप बहुत है—गाड़ी यहीं खड़ी है।"

बुआ जी का चेहरा भावहीन था। "अच्छा, आना फिर कभी। तु[म] तो भाई कार वाली हो। हमारा तो इस गर्मी में रिक्से से आना-ज[ाना] मुश्किल पड़ता है। तुम्हीं आ जाया करो, वर्ना एक शहर में हो, हम ही जाते हैं।"

"आऊंगी।" उसने हाथ जोड़ दिए, "अच्छा नमस्ते।"

"नमस्ते, खुश रहो।" बुआ जी भीतर मुड़ गईं। ड्राइवर ने

स्टार्ट की तो उसने फिर हाथ जोड़े, "अच्छा फूफा जी।"

"अच्छा भाई, दिनेस वाली बात याद रखना, अच्छा?"

"जी।"

३

कुछ क्षण बाहर की गर्मी से त्राण पाकर बहुत अच्छा लगा पर धीरे-धीरे पंखे की परिचित फड़फड़ाहट और कमरे की परिचित गंध से वही कुलबुलाता शून्य उसके चारों ओर धीरे-धीरे तनने लगा था। उसने तकिये में सिर गड़ाकर सोने की कोशिश की, पर कुछ ही देर पहले जोड़-जोड़ में उमड़ती नींद न जाने कहां गायब हो गई। अपनी हल्की हरी शान्त स्थिरता में डूबा वह कमरा भी अलसाया पड़ा था। उसने गिलास पर ठण्डा पानी ले लिया और सहरा-सहराकर पीने लगी। मां चिट्ठी का इंतज़ार करती होंगी। बिल्लो वग़ैरा आते तो शायद उन्हें इतनी उत्सुकता उसके आने की न होती। बिल्लो की चिट्ठी का जवाब भी देना होगा। पर अभी तो कुछ दिन वे लोग अलग-अलग जगहों पर घूमते रहेंगे। न्यूयार्क के पते पर ही बाद को लिखेगी। उसने पानी का खाली गिलास रसोई में रख दिया। इस बार मां को काफी अकेला लग रहा होगा। वर्ना हमेशा गर्मियों में उनके साथ दोनों बेटियों में से कोई न कोई रहती ही थी। पर वैसे बिल्लो पिछली बार ही कह रही थी कि अब मैं हर साल के बजाय हर दूसरे साल आया करूंगी। उसे तो ललक होती ही है हर बार, पर बच्चे बहुत उकता जाते हैं। वहां उनके ढेरों हमउम्र संगी-साथी हैं, टेलीविज़न पर ढेरों रंगीन प्रोग्राम हैं, फिर आदतें भी वहां रह-रहकर बिगड़ गई हैं। यहां के दूध से उन्हें बू आती है, फल बेस्वाद लगते हैं, खाना बहुत ही मसालेदार और अरुचिकर। नरेश भाई कह रहे थे कि पिछले साल ही अड़ गये थे कि हमको यहीं छोड़ जाओ, तुम दोनों हो आओ। सो हमने यही तय किया कि एक साल छुट्टियों में इनके मन की करेंगे, दूसरे साल अपने दोनों

की या दरअसल बिल्लो की। नरेश भाई ठठाकर हंस पड़े थे पर बिल्लो भिच गई थी, "जैसे मैं तुम्हें खींचकर लाती हूं न? मत आया करो। मैं अकेली भी सफर कर सकती हूं।"

"ओहो भाई रिलैक्स।" नरेश भाई कतिपय तलखी से उठ गए थे। उसने नोट किया कि वे पीछे से गंजे हो चले थे, हालांकि उद्यमी जिन्दगी से बदन में अभी कसाव था। फिर बिल्लो भी उठकर चली गई थी।

'क्रि···क्रि···' फोन जाने कब से बज रहा था। वह कूदी। गोपालसिंह भी चला गया था। "हलो!" उदय की आवाज सुनकर उसे गहरी आश्वस्ति हुई, जैसे कि एक गहरी खाई में झांकते हुए चकराकर गिरने वाली हो कि आवाज ने थाम···

"क्या हाल है?" उदय का स्वर हंसमुख था।

शायद वह व्यवस्थित होती तो, उसी लहजे में जवाब दे देती। पर अभी वह कुछ अचकचा-सी गई। "कुछ खास बात?"

"दरअसल बासु फैमिली पहाड़ जा रही है। मैं पूछना चाहता था कि अगर जाना हो तो अभी भी रिजर्वेशन हो सकता है।"

"क्या जरूरत है?" रजनी को अपनी आवाज कुएं से आती-सी लगी।

"पक्का? फिर बाद में गर्मी का रोना मत रोना।"

"नहीं, पक्का।" उसने फोन रख दिया और बाथरूम में घुसकर देर तक कपड़ों समेत भीगती रही। कल मदरासन जो भी सोचे। कपड़े बदलकर वह चप्पल पांव में डाल रही थी कि घण्टी बजी, ओह पोस्टमैन। उसने उदासीनता से सोचा। पहले तो वह पोस्टमैन की आहट पाते ही बेतहाशा भाग पड़ती थी, चाहे जिस हालत में भी हो। शुरू-शुरू की बात है। तब चिट्ठियां भी तो ढेरों आती थीं, उसके दोस्तों की, अध्यापिकाओं की, घर वालों की। मां और बिल्लो के खत छोटे-छोटे चचकाने विवरणों से भरे रहते थे: 'जानती हो आज कनाट प्लेस में किसे देखा? वही डान जुआन राकेश मेहता। साथ में एक बड़ी सुन्दर लड़की थी। वही होगी जिसके बारे में मधु बताती थी। स्कूल की डोर्म्स के पर्दे बदल गए हैं, सामने का

लान और बड़ा किया जा रहा है···तुम्हारी बिल्ली के चार बच्चे हुए हैं,हां, आया की लड़की की भी शादी हो गई, तुम्हें बहुत याद करती थी, तुम्हारे ही कपड़ों पर पली थी बेचारी···याद है?' याद है? याद है ? याद है? ··· नहीं, उसे कुछ भी याद नहीं। वह कुछ याद करना भी नहीं चाहती। न जाने कब चिट्ठियां खुद-बखुद फार्मल होती चली गईं। स्कूल की सालाना मैगजीन भी कभी आती है तो उसमें सब चेहरे नये दीखते हैं, उसकी ज्यादातर क्लास सहेलियों के ब्याह-बच्चे हो चुके हैं, एकाध की तस्वीर भी मुछन्दर पति या गदबदे बच्चे के साथ मैगजीन के पुरानी छात्राओं वाले कोने में कभी दिख जाती हैं। उसके मन का कोई ठण्डा कोना इन कतरनों को बीनता-भुलाता रहता है, बस। उसे लगता है कि कभी इन सबसे दुबारा भेंट हो भी तो आपस में उन्हें कहने को कुछ नहीं बचा होगा।

दरवाजे पर अंग्रेजी की एक महिला-पत्रिका पड़ी थी, एक बिजली का बिल, उसने बिल ऐश ट्रे से दबा दिया और कुर्सी पर लेटी-लेटी पत्रिका के पन्ने पलटने लगी। सुन्दर सुडौल विदेशी परिधानों में लिपटी देशी माडल्स तकरीबन हर पन्ने पर मुस्करा या इतरा रही थीं। दुबले होने की आयासहीन तरकीबें, क्या आप वही लड़की हैं जिससे आपके पति ने प्यार किया था? कपड़ों-गहनों की कीमती गेवाकलर तस्वीरें, हंसती हुई गदराई समाजसेवी गृहिणियां जो पुष्प-सज्जा की आकर्षक प्रदर्शनी में रेशमी फीता काट रही हैं, फिर एकाध रोमाण्टिक कहानी, मर्द के चौड़े खुरदरे कंधे पर सिर टिकाए अधबेहोश तन्वंगी, 'और फिर उसने मुझे चूम लिया और मेरे चारों ओर सितारे नाच उठे।' सितारे नाचेंगे? हूंह! उसने पत्रिका पटक दी। जाने क्यों यह कचड़ा मंगवाती है वह। भाषा ही नहीं, खाने-पहनने के नुस्खे तक एक नकली पश्चिमी रंग में डूबी हुई रंगीन तस्वीरें-भर। दुबले होने के आयासहीन ढंग! उसे रेस्ट हाउस में खेलते चौकीदार के नंगे, रेंट बहाते बच्चे याद आए। मटके से फूले पेट और सींक से हाथ-पांव। आया के बच्चे भी तो, जब वह गांव से शुरू-शुरू में आई थी,ऐसे ही थे। खाने के बचे अवशेषों पर कुत्तों की तरह गुर्राकर टूट-टूट पड़ते

हुए। मां उन्हें देखतीं और सिर हिलाकर मृदु स्वर में शोक व्यक्त करती, 'उफ् कैसी गरीबी है हमारे देश में! बेचारे!' शायद उसी टोन में जिस टोन में वह कहती है, 'उफ कैसी गर्मी पड़ती है हमारे देश में, नहीं?' और शायद इसीलिए उसे ऐसे बोलता सुनकर उदय झटके से कुछ कड़वा-सा सच उसके बारे में कह जाता है जिसपर वह घण्टों तन्नाई फिरती है। अपनी कमजोरियों का खुद मज़ाक बनाना एक बात है पर उन्हींको दूसरे के मुंह से सुनकर स्वीकार करना और, नहीं?

पर फिर क्या उसकी सारी जिन्दगी दूसरों के फतवे ही स्वीकार करने की प्रक्रिया-भर बनकर नहीं रह जाएगी? क्या इसी सिर-झुकाऊ विनम्रता ने उसकी मां के व्यक्तित्व को कुतरकर बौना नहीं बना डाला है? खाओ तो, पहनो तो दूसरों की पसन्द का। दोस्त भी बनाओ तो दूसरों की पसन्द के। इसीलिए आज रात के डिनर में बी० एम० के घर जाने का उसका मन कतई नहीं था। चकोतरे-से गोल और खुरदुरे चेहरे वाली सिर से चौगुने आकार का जूड़ा बांधे मिसेज़ बोहरा को देखकर उसके भीतर सदा कुछ ऐंठकर फिरण्ट हो जाता है। उनके स्लीवलैस ब्लाउज़ से उबली-सी पड़ती बांहों पर छितराए-छितराए चेचक के टीकों के पुराने निशान, उनकी इत्र-गंधाती चुम्बनयुक्त आत्मीयता, उनके गंजे पति का गोल-गोल अंग्रेज़ी लहजा सब एक भोंडी कामेडी के अंग लगते थे, जिसपर हंसी कम गुस्सा ज़्यादा आता है। यूं चाहे तो लड़-झगड़कर इस सबको टाला भी जा सकता है,पर फिर वही रबड-सी खिचती बहसें, नाटकीय संवाद, नहीं!

इस तरह तो मैं कुछ भी नहीं कर पाऊंगी। निराशा से आरामकुर्सी में धंसते हुए उसने सोचा। ढीले हाउसकोट की फांक से उसका चिकना घुटना कुछ दीख रहा था—बच्चे की पीठ की तरह नर्म और साफ। उसने धीरे से उस गुलाबी कोमलता को छुआ। मैंने आखिर चाहा क्या था? कोई बहुत भारी फलसफाना सफाई तो नहीं, सिर्फ यही-भर जानना कि मेरा निजी प्रयोजन क्या है? किसी रूमानी भावावेश में फुसलाए जाने

के बजाय। क्या यह बहुत बड़ी आकांक्षा है ? या जिस बेलाग निर्णय को वह तलाशती रही है वह इस सुरक्षा और आराम-भरी ज़िन्दगी के परे खड़ी चुनौतियों को टालने का एक आसान बहाना-भर है ?

'ट्रींऽऽऽ' घण्टी की कर्कश आवाज़ से वह चौंकी। न जाने कब कुर्सी पर बैठे-बैठे ही आंख लग गई थी। गोपालसिंह तो आज शाम की छुट्टी लेकर गया था। तब कौन हो सकता है ? एक हाथ से जम्हाई ढँकते उसने कलाई-घड़ी देखी। छ बज चुके थे। न जाने वह कितनी देर सोती रही होगी! उदय बहुत बेचैन हो जाता है, यदि तुरन्त दरवाज़ा न खुले तो। अपने को बटोरती वह हड़बड़ाकर दरवाज़ा खोलने को लपकी। घण्टी फिर बजी।

'ट्रींऽऽ!' उफ, कितनी बार सोचा है कि उस कर्कश आवाज़ वाली घण्टी को बदलवा डालेगी, किन्तु फिर भूल जाती है, और एक उदय है कि मिनट-भर भी रुक नहीं सकता, जैसे कि घण्टी दबाने-भर से ही दरवाज़ा खुल जाएगा। उसने एक हाथ से उनींदी आंखें मलते-मलते दूसरे हाथ से दरवाज़ा खोला। उदय बेचैनी से धूप के चश्मे की डण्डी पकड़कर उसे घुमाता खड़ा था, "उफ, अभी तक ऐसी गर्मी है!" वह सीधा उस कुर्सी में जा धंसा जिसमें वह बैठी थी।

"आ!" सैंडिल झटकारते हुए उसने एक कुशन सिर के नीचे रखा और पसर गया।

"अरे गोपालसिंह ! एक गिलास पानी देना!"

"उसकी तो आज शाम की छुट्टी है न !" उसने फ्रिज खोला।

"ओह हां, अच्छा।" उदय ने एकसाथ पूरा पानी पीकर गिलास आगे बढ़ाया, "और देना तो ज़रा ! इतनी उनींदी क्यों लग रही हो ? सो रही थीं क्या ?"

"हां।"

"तुम्हारा विज़िट कैसा रहा ? कोई मिला ?"

"हां सभी थे।" रजनी कुछ अटक-सी गई।

"गर्मी बहुत थी।"

"हूं।" उदय उसे सीधा तक रहा था।

उसकी बेबाक परखती हुई नजर के सामने वह हमेशा अपने को बहुत हीन और छोटा महसूस करने लगती है। "तुम रिजर्वेशन के लिए मना क्यों कर दिया ?"

"ऐसे ही।" रजनी पास खड़ी पत्रिका के पन्ने पलटने लगी, बेकार ही।

"मैं जरा नहा लूं।" उदय उठ खड़ा हुआ।

वह जाने को उठा तो रजनी ने पत्रिका एक ओर को रख दी, "सुनो।"

"क्या ?"

वह पूछना चाहती थी कि क्या शाम को बी० एम० के घर जाना बहुत जरूरी है ? पर चुप रही। "कुछ नहीं।"

बाथरूम से शावर की लगातार आवाज आ रही थी। वह पलंग पर बैठकर पैर झुलाने लगी। कभी उसे अपनी सुडौल टांगों के कारण स्कूल में मार्लिन डिएट्रिच कहा जाता था। उसने हाउसकोट उतारकर फर्श पर डाल दिया और लम्बे आईने के सामने खड़ी होकर पैरों को लचकाकर देखने लगी जैसे कैबरे डांसर्स करती हैं। फिर वह मुस्कराई। "हैलो मार्लिन।" शावर की आवाज थम गई थी। उसने सफीज से हाउसकोट लपेट लिया और पलंग पर बैठ गई। उदय तौलिया लपेटे-लपेटे निकला। "क्या बजा है ?"

"साढ़े छः।"

रजनी के गालों को उसके कंधे का ताजा ठण्डा स्पर्श भला लगा। यह स्पर्श उतना ही परिचित था जितना उसके अपने घुटने की गोल नर्माई। ऐसे समय खुशी कितनी आसान और चौकन्नी होती है, नहीं ? कुछ भी कहे बगैर। काश, उसका मन उतना ही सहज और उदार हो पाता जितना इस क्षण उसका बदन होता जाता है ! वह अन्यमनस्क-सी हंसी। उदय का तृप्त माथा उसके कंधे पर था। उसने अपने-आपको बहुत भरपूर महसूस

किया। पर थोड़ी देर को ही। सड़क पर एक स्कूटर कर्कश आवाज़ से सन्नाटे को चीरता निकल गया। चीज़ें मानो फिर अपनी शंका-भरी जड़ता में लौट रही थीं। उसके बदन तले दबा दाहिना हाथ उदय के बोझ से सुन्न हो रहा था। उसने धीरे से हाथ छुड़ाकर करवट बदल ली।

"क्या सोच रही हो?"

"तुम हर वक्त यही क्यों जानना चाहते हो कि मैं क्या सोच रही हूं?"

"क्योंकि मैं तुम्हें जानना चाहता हूं।"

उदय ने उसका कंधा पकड़कर जबरन अपनी ओर मोड़ लिया था। उसने फिर एक उग्र विरोध में अपने-आपको पैनाकर नुकीला और सतर होता महसूस किया।

"तुम समझते हो कि जबरन मुझसे अपनी पसंद की बात कहलवा सकते हो? वह भी सिर्फ इसलिए कि अपनी ताकत से तुम मुझे इस तरह..."

उदय का हाथ तुरंत ढीला पड़ गया। जैसे अंगारा छू गया हो।

एक बार उसने सोचा कि शायद वह ज़्यादा ही अशिष्ट बात कह गई। पर भीतर टूटी सुई की किर्च-सी चुभी। शिष्टता और क्षमादान का ठेका उसीने लिया है, क्या? वह उठकर बैठ गई। "चलो बाहर चलकर बैठते हैं। अब तक गर्मी कम हो गई होगी।"

उदय थोड़ी देर उसे ऐसे गौर से ताकता रहा, जैसे वह पुरानी दीवाल की कोई धुंधली कांईदार इबारत पढ़ रहा हो।

"मैं सोच रहा हूं कि तुम किससे ज़्यादा डरती हो, मुझसे या अपने-आपसे?"

"क्या बकवास है!" उसने हंसना चाहा पर हंसी नहीं आई।

"नहीं, सच ।" उदय कुहनी के बल उठ आया, "तुम जानती हो जब बिल्लो के घर में मैंने तुम्हें पहली बार देखा था तो तुम्हारे बारे में सबसे अनोखी चीज मुझे क्या लगी थी?"

"क्या?" गुस्से के कालेपन के बीच कुतूहल की कच्ची कोंपल फूट ही पड़ी थी।

"जिस वक्त और सब लोग मज़े में एक-दूसरे से हंस-बोल रहे थे, तुम इस कदर नाराज़ और घबराई हुई लग रही थीं जैसे गलती से पार्टी के बीच घुस आई हो।"

"और तुम्हारा बड़प्पन पिघल गया, क्यों ?"

उदय हंसने लगा।

"फिर तुमने सोचा होगा कि तुम्हारी दमदार मर्दानगी के लिए मैं कितनी अच्छी पृष्ठभूमि बन सकती हूं, नहीं?—श्रीमती घबरालू से मिलिए, इनकी खासियत लोगों से तुरंत उकता जाना, पार्टियों में पानी-पानी होना, अपनी बेचारगी से लाचार, मेरे बिना न जाने इस बेचारी का क्या होगा ?" उसने सुबकने का नाट्य किया।

"इतना तो नहीं पर हां, शायद थोड़ा कुछ। उदय छत तक रहा था।

"तुम दरअसल उतनी बेवकूफ नहीं हो, जितना कि बनने की कोशिश करती हो।"

"मालूम है।"

उदय अचानक फिर उसकी ओर मुड़ गया जैसे इसी जवाब के इंतज़ार में रहा हो। "इसीसे तो कहता हूं कि बजाय अपने को दबा-दबाकर हर वक्त झुंझलाते फिरने के कुछ करो। पढ़ी-लिखी हो, कम उम्र हो, अक्लमन्द हो, इस तरह अपने को जबर्दस्ती..."

"छोड़ो भी।"

"नहीं, छोड़ो-वोड़ो नहीं। तुम जानती हो कि जब तक तुम अपनी इस नकली हीनभावना से नहीं छूटोगी, तुम किसी तरह स्थिर नहीं हो पाओगी, चाहे अपने बारे में या दूसरों के साथ।" ले आया न फिर मसला अपने पर। बात को घुमा-फिराकर भी। शायद मां-बाप के इकलौते बच्चे अपने से परे किसीके बारे में सोच ही नहीं सकते। उसने तल्खी से बाल पीछे किए। पर अकसर क्या खुद वह भी यही नहीं करती है ? फिर हो सकता है उसका मतलब कुछ और हो।

कुछ देर चुप्पी रही।

'रजनी।"

वह चुप रही। उदय का परिचित स्पर्श उसकी गर्दन से होता हुआ कुहनी, कलाई-पोरों तक धीरे-धीरे फिसल रहा था। "सतरंगे पानी की चमकीली सुडौल बूंद नाराज़ हो गई फिर से ?"

सारी तल्खी के बावजूद उदय की प्रश्न-भरी आंखों का अकेलापन उसे फिर कहीं से पिघलाने लगा था।

उदय ने अब आंखें बन्द कर ली थीं। वह कुछ सोच रहा था शायद। उसके सुडौल माथे के नीचे पपोटों के नर्म सीपी-से आकारों में थिरकती गर्माहट थी। क्या सोच रहा होगा वह ? सच में वह उसे जानती ही कितना है अभी तक ? अभी कुछ ही देर में जब शरीर और मन के उधड़ेपन के साथ-साथ उसकी यह असहाय आतुरता भी चुक चुकी होगी तो क्या उसकी उसी चुम्न सशंक मर्दानगी के आगे वह फिर अपने-आपको कटा जाता महसूस नहीं करेगी ? कायर औरत। भीतर का चीता उछल-कर चहलकदमी करने लगा था। यह आदमी तुम्हारी ही भावनाओं से ब्लैकमेल करके तुम्हारा आपा भुला सकता है तुम्हें ?

वह पलंग से उतर आई।

फ्लैट की खुली बाल्कनी ही उसे इस घर की सबसे अच्छी जगह लगती थी। खास कर इस थकी वेला में।

दिन-भर की घुटन के बाद इस वक्त खुले में आकर वह खुद को अचानक बहुत ताज़ा और बातून महसूस कर रही थी। दोस्ताना, खुली, बेलगाम। जैसी न्यूयार्क की सड़कों पर साथ-साथ टहलते वक्त होती थी। सड़क यकायक उत्सव की-सी रंगीली और बेवजह व्यस्तता से भर उठी थी। लड़कियों का एक हजूम किसी बात पर ज़ोरों से खिलखिलाया। एक रिक्शे की घण्टी हंसी से टकराई, टुन्न ! रिक्शे में एक अधेड़ दम्पति बैठे थे। गृहिणी के गुदाज़ व्यक्तित्व में मोटापे की शिथिलता नहीं, उम्र का आत्मविश्वास और सुथरापन था। पति के बगल में बैठने की उसकी

चुस्त अलसता में वरसों का सुखद साहचर्य झलकता था। वगल में एक वुर्राक कलफदार तसल्ली में वैठे पति का खिचड़ी सिर तत्परता से उसकी वात सुनने झुका। वह मुस्कराकर कुछ कह रही थी। रजनी को भला लगा।

"क्या सोच रही हो?" उदय ने शर्वत खत्म कर लिया था और गिलास को हिला-हिलाकर वर्फ के टुकड़ों का खनकना सुन रहा था। उसे हंसी आ गई। "तुम जव ऐसे ही वेकार के काम करते रहते हो तो अच्छे लगते हो।"

"अच्छे यानी पालतू, नहीं?" उदय ने गिलास रख दिया। उसने असमंजस में इधर-उधर ताका। कव उदय वात को हंसी में उड़ा देगा और कव संजीदा हो जाएगा, उसे मालूम नहीं होता। उसने झट से वात वदलनी चाही।

"स्कूल में गर्मियों की शामों में हमें रोज घुमाने को ले जाया जाता था। कतार की कतार हम लोग सड़क पर ऐसे भागते थे जैसे कि जेल से छूटकर आए हों।"

"फिर?" उदय ने हाथ कुर्सी के पीछे वांध लिए।

"फिर क्या? वही वंधा-वंधाया रास्ता था। हम लोग राह चलते सैलानियों की भीड़ में जाने-पहचाने चेहरे तलाशते रहते थे। अकसर दिख भी जाते थे।"

उदय का ध्यान इसी वीच कुर्सी के पास पड़ी उसकी किसी पुरानी पत्रिका पर चला गया था। वह उसे खोलकर सरसरी निगाह से तस्वीरें और सतरें पढ़ने लगा। वह चुप हो गई।

"क्या कचरा मंगाती हो तुम भी।" उसने पत्रिका नीचे डाल दी।

"है न? मैं भी यही सोच रही थी। दरअसल घर में वैठकर कुछ भी न करना वहुत खतरनाक ढंग से आसान है।" रजनी हंसने लगी, "वस अव फिर शुरू मत कर देना अपने उपदेश। मैं जानती हूं तुम क्या कहोगे।"

"तव फिर? कुछ सोचा?" उदय खड़ा हो गया था, "ऐसे वैठे-वैठे

मज़ाक में उड़ा देने की बात नहीं है, समझी ?"

"क्या ?" रजनी भी उठ खड़ी हुई।

"ऐसी ही रहोगी तो अपनी अड़ोस-पड़ोस की थुलथुल गृहस्तिनों की तरह दिन-भर ब्रिज खेलकर चर्बी बढ़ाने वाली भैंस बन जाओगी।" उदय ने उसके कूल्हे पर धौल जमाई।

'बां ऽऽ।" उसने कान से उंगलियां सटाकर आक्रमण की उद्यत भैंस की मुद्रा बनाई। फिर दोनों हंस पड़े।

पार्टी खासी बड़ी और औपचारिक लगती थी। रजनी को राहत-सी मिली। उन आत्मीय घरेलू सम्मेलनों से, जहां जमकर बात करनी पड़ती है, उसकी रूह कांपती है। हालांकि मां या बिल्लो जैसे लोग यह एक बड़ी सुघड़ निपुणता से निभा ले जाते हैं। पर कुछ लोग हमेशा सब कुछ ठीक से निभा लेते हैं। नहीं ? उसने दम खींचकर दायां गाल मेज़बान महिला की तरफ़ बढ़ा दिया। उनकी सांस पर ह्विस्की की हल्की बू थी। पहला दौर शुरू हो चुका था शायद। उसने कनखियों से उदय को भांपा। वह उसकी तरफ़ पीठ किए मेज़बान से कुछ कह रहा था। उसके खड़े होने, बदन साधने और आवाज़, सबमें उस आदमी का सहज आत्मविश्वास था जिसने कभी किसी तरह का अभाव महसूस नहीं किया है। मिस्टर वोहरा की आवाज़ उठी। वह वैसी ही थी जैसी कि उसे याद थी। गोल-गोल ब्रिटिश उच्चमध्यवर्गीय उच्चारण, जैसे मुंह में गर्म आलू दबाकर अंग्रेज़ी बोल रहे हों। उसने सामने रखी ट्रे में से एक गिलास उठा लिया। मधु-मक्खी के छत्ते-सी भिनकती अतिथियों की भीड़ कुछ हटी, कुछ जुटी, फिर उसने दोनों को लील लिया।

हाथ का गिलास चौड़ी रेलिंग पर टिकाकर रजनी ने फर्न की हरी ठण्डक पर अनमना गाल छुलाया। इतनी देर वह किससे क्या बात कर रही थी शायद दिमाग पर ज़ोर डालने पर भी याद न आए। ज़रूरत भी क्या थी ? वह खंभे से टिककर खड़ी हो गई। बरामदे में बस एक हल्का

हरा वल्व-भर जल रहा था। यहां अपने को बहुत सुरक्षित, हल्का और तटस्थ महसूस किया। बीच-बीच में कांच के परे भारी पर्दे क्षण-भर को हिलते तो किसीकी नंगी बांह या चेहरे के किसी कोण की झलक-भर मिल जाती, बस, कभी दरवाज़ा थोड़ा खुल जाता तो फांकों से बातचीत के टूटे, अव्यवस्थित टुकड़े उधर घुस आते। जैसे नीमबेहोशी में कोई अनर्गल सपना देख रही हो। उसे अचानक जोरों की भूख लग आई थी। खाना तो यहां बारह बजे से पहले मिलना असम्भव है। घर से कुछ खाकर चलती तो अच्छा होता। उसने गिलास उठाकर एक घूंट लिया। बर्फ पिघल जाने से तुर्शी ढक-सी गई थी। अजब कुनकुना-सा खारा स्वाद, उसे रेस्ट हाउस का पानी याद आया, वह भी तो तकरीबन ऐसा ही बेस्वाद था। उसने बाकी गमले में उडेल दिया। गर्मियों की रात का खिचता सन्नाटा बुरा नहीं लगता। उसे पहाड़ी रातों की चुप्पी याद आई। यहां रात का सन्नाटा जितना ही स्तवध और शिथिल लगता है पहाड़ के बीच वह उतना ही आतुर और चौकन्ना महसूस होता था। जाने क्या-क्या हो गुज़रने की संभावना से भरपूर। वैसे क्या पता शायद तब वही अपने ऊर्ध्वगामी चमकीले स्वप्नों से जोड़कर हर चीज़ को देखती रही होगी। तीन-चार साल भी तो हो गए…वह मुस्करा पड़ी। कितनी आसानी से एक-दो साल उंगलियों के बीच से फिसल जाने दे रही थी, जैसे अभी से अधेड़ हो चुकी हो। वह कुछ उदास-सी हो गई। औरतें जब सालों का हिसाब-किताब बैठाने लगती हैं तो उसीके साथ अधेड़ होना शुरू कर देती हैं, रीना दत्ता कहती थी। उन्हीं छुट्टियों में एक छोटी बीमारी से वह जाती रही थी और अगले साल स्कूल मैगजीन में काले स्याह ब र्डर के बीच उसकी तस्वीर छपी थी— उसकी आत्मा को शांति मिले। उसे पता नहीं क्यों अभी भी नहीं लगता कि वह नहीं रही। उसकी मौत का ख्याल आता भी है तो बहुत धुंधला-सा, पर रीना की लम्बी पलकें और उसके गोले होंठों के किनारे की परिचित लकीरें उसे अभी भी स्पष्टता से याद हैं। उसकी युवा इंद्रियां जीवित होने के अहसास को इतनी तेज़ी से महसूस

करती है कि उसके परे जो भी है वह उसकी पकड़ से छिटक-छिटक जाता है। उसने गमले की मिट्टी को उंगलियों से कुरेदा। मिट्टी की ठण्डी आत्मीयता ने उसे आश्वस्ति-सी दी। गिलास उठाकर वह भीतर जाने को ही थी कि सोमेन्दु आ निकला। वह थम गई।

"यहां क्या कर रही हो? फार परफाम द मैडिंग क्राउड?" सोमेन्दु की हंसी हल्की और संगीतमय थी। वह कुछ चिढ़-सी गई। पता नहीं इसकी वजह सोमेन्दु का चुस्त-चिकना आत्मविश्वास था कि गर्मी की यकायक उभरती अनुभूति। उसे अपनी साड़ी के झीनेपन के बावजूद अंगों के बीच और गर्दन पर पसीने की बूंदें रेंगती-सी प्रतीत हुईं। वह चुप रही।

"अन्दर की भीड़ के बाद यहां अच्छा लगता है ना?" सोमेन्दु चौबे की तरह गर्दन टेढ़ी कर उसे देख रहा था। जैसे अपनी किसी पेंटिंग का मुआयना कर रहा हो।

"यहां अच्छा लगता है, नहीं?" उसने होंठों पर जुबान फिराई। उसे अपनी बात बचकानी और फालतू महसूस हो रही थी।

"जहां भी खूबसूरती हो, ठण्डक हो, अच्छा तो लगेगा ही।" सोमेन्दु की आवाज़ में आकाशवाणी की नाटकीय बंगाली भावुकता से उसे कोफ्त हुई। वह उसके और भी पास आ खड़ा हुआ था। रजनी की उंगलियां कांच पर कस गईं—'कमबख्त, अब कहीं छूने-छाने की कोशिश न करे।' उसके सिर में यकायक तेज़ दर्द होने लगा था। सोमेन्दु को वह आज से नहीं सालों से जानती है। कुछ साल पहले बिल्लो और उसे लेकर कुछ चिमेगोइयां भी होती रही थीं; सच थीं या नहीं वे ही दोनों जानें पर दोनों ने फिर अपने स्वभावानुसार वह रिश्ता तोड़कर दूसरे साथी खोज लिए थे। इसकी वर्तमान बीवी ग्रीक थी शायद, या आर्मीनियन, या शायद आर्मीनियन ग्रीक। बिल्लो का कहना था कि सोमेन्दु को हर औरत में एक सफेद फिरंगिन की तलाश है, और इस हीनग्रंथि को वह कतई स्वीकार नहीं कर सकती। बेचारी बिल्लो,- अपनी बड़ी-सी बिंदियां, हथकरघे की

घटक देहाती साड़ियों और चांदी के आदिवासी गहनों के बावजूद वह खुद भी तो छिपने के बजाय वही लगती थी जो दरअसल थी—निखालिस एंग्लोइंडियन स्कूलों की एक संभ्रान्त नीम अंग्रेजी पैदाइश। कम से कम सोमेन्दु की चटखारेदार गोरा-परस्ती उससे तो कम ही प्रच्छन्न थी, नहीं? वह चौंकी। सोमेन्दु कुछ पूछ रहा था शायद।

"तुम आजकल इतनी थकी और उदास-सी क्यों लगने लगी हो? कुछ रिश्ता ठीक से नहीं जम पा रहा है क्या?" उसका सुर भेद-भरे अंदाज में धीमा हुआ, "अगर किसीसे कहने से जी हल्का होता हो तो जब चाहो मेरे पास आ सकती हो। यू नो!" उसने सिगरेट हवा में लहराई।

वह चुप रही। अपने निजी जीवन में सोमेन्दु की कुरेदती रुचि उसे इतनी ही भोंडी लगा रही थी जितनी बुआ जी की गिलगिली जिज्ञासा। वह भागकर भीतर चली जाना चाहती थी पर खड़ी रही।

"तुम तो हमेशा इतने सुरक्षित और दूसरी तरह के माहौल में पली हो, तुम्हारे लिए यहां एडजस्ट करना काफी तकलीफदेह होगा, नहीं? खासकर इस गर्मी में।" सोमेन्दु ने भवें सिकोड़कर सिगरेट का गहरा कश लिया। कुछ तो धुएं से और कुछ उसे देखने की एकाग्रता से उसकी पुतलियां नाक की ओर ऐसी सिमट आई थीं कि वह कुछ-कुछ भेंगा लगने लगा था। उसे हंसी आने को हुई।

"तुम वापस क्यों नहीं लौट जातीं? कुछ दिन को ही सही! अपने माता-पिता के पास रहो। वे लोग तो बहुत ही खुश होंगे अपनी चहेती बिटिया को देखकर।" सोमेन्दु का सुर पुरमजाक हो चला था। शायद उसे डर था कि वह उसकी सहानुभूति से पिघलकर सुबकना न चालू कर दे। बेचारा सोमेन्दु। शायद उसे मालूम नहीं कि उसकी करुणा का सतहीपन कितना साफ और हास्यास्पद है।

दरवाजा खुला और बातचीत में भिनकता एक हजूम खाने के दरवाजे की ओर मुड़ चला।

"आज खाना बड़ी जल्दी मिल रहा है, नहीं?" सोमेन्दु बोल उठा।

रहा था पर उसकी आँखें लावारिस कुत्ते की उतावली लपलपाहट के साथ भीड़ में स्त्रियों को टटोलने लगी थीं। "आज की रात की फ्लाइट से इनके चीफ आ रहे हैं सो साढ़े ग्यारह तक हम सबको विदा हो जाना है।" फिर उसने गिलास उठाकर किसीको हांक लगाई और झनझनाती टूथपेस्टी मुस्कान बिखेरती एक कमसिन फिरंगन चांदी और मनकों की खनखनाहट समेत अपना रंगीन झोला संभालती उधर आने की कोशिश करने लगी। उसने चुपचाप गिलास रख दिया और भीड़ में खो गई। सोमेन्द्र ने अगर उसे जाते हुए देखा था भी, तो रोकने की कोशिश नहीं की।

बिस्तरे पर लेटे-लेटे रजनी ने पैर सीधे किए। बगल में उदय बेखबर सो रहा था। हमेशा की तरह पेट के बल। एक हाथ शिथिल सौहार्द से उसके ऊपर पड़ा हुआ था – शान्त और आत्मीय। उसने बहुत धीरे से उदय का हाथ उठाया जैसे किसी छोटे शिशु को छू रही हो, और उठाकर तकिये पर टिका दिया। उदय के पपोटे कुछ कांपे, फिर खुले, "क्या बजा है ?" उसने बिना सिर उठाए पूछा। तकिये में दबी उसकी आवाज भिंची हुई-सी थी। रजनी ने घड़ी देखी। "आठ।" उदय ने शुतुर्मुर्ग की तरह फिर तकिये में सिर घुसा दिया। उसकी दाढ़ी की हरी झाईं और कुछ-कुछ सूजी आँखों से उसका चेहरा एकदम पस्त लग रहा था। रजनी ने पांव नीचे किए।

"काफी लोगे ?"

सिर सहमति से हिला।

"खासी उबाऊ रही कल की पार्टी, क्यों ?" वह नाखून कुतरने लगी। उदय की देह एक श्लथ मुद्रा से उसकी ओर घूमी—"कब नहीं होती है ?"

"हां, वह तो है ही।" उसने पांव समेटकर उनके गिर्द हाथ फंसा लिए और घुटनों पर ठोड़ी रखकर बैठ गई। "अच्छा तुम्हें क्या कभी

ऐसा नहीं लगता कि ऐसे सब लोग किनारों से छांटकर अपने लिए एक रोल निकाल लेते हैं और हर वक्त उसीको निभाते रहते हैं। वोहरा को लो या सोमेन्दु को, नहीं?"

"तुम समझदार हो रही हो धीरे-धीरे।" उदय ने हंसकर करवट लेने की कोशिश की।

"नहीं, सच में, तुम्हें नहीं लगता कि ये सब एक नकली किताबी ज़िन्दगी जी रहे हैं? बिना जड़ों के, बिना गहराई..."

उदय शायद उसकी बात पूरी सुने बगैर फिर अधमुंदा हो गया था। वह उठकर बाहर आ गई। उसकी अपनी पलकों पर भी अधूरी नींद का रेतीला भारीपन था। मुंह सूख रहा था। गोपालसिंह को काफी के लिए कहकर वह नहान घर में घुस गई। गर्मी फिर शुरू हो गई थी।

तिपाई पर दोनों पैर रखे वह पत्रिका के पन्ने पलट रही थी। उदय की आहट पाकर उसने सिर उठाया। नहा-धोकर वह फिर से चुस्त और व्यवस्थित लगने लगा था।

"गोपालसिंह से नाश्ते के लिए कह देना।" उदय ने व्यस्त भाव से जेबी डायरी निकाली और कुछ पढ़ने लगा। गोपालसिंह उदय की आवाज़ सुनकर प्लेटें लगाने लगा था। वह बगैर कुछ कहे वापस लौट आई। कमरे में पंखे की फरफराहट-भर थी। कभी मैगजीन के पन्ने सरसरा जाते, बस। उसने एक बड़ी-सी जमुहाई ली। उदय ने डायरी जेब में रखते हुए ऊपर ताका, "आज क्या करोगी दिन में?"

"पता नहीं।" उसे ज़ोरों से नींद आ रही थी, "शायद सोऊंगी।"

"पूरे दिन?"

"पता नहीं," वह हंसने लगी। "कुछ न कुछ तो करूंगी ही, तुम इतना परेशान क्यों हो रहे हो?" उदय चुप रहा। गोपालसिंह ने झांका। नाश्ता लग गया था। दोनों उठ खड़े हुए। "दिन में आओगे?"

"हूंऽ, शायद।" उदय ने कुर्सी सरकाई और उठ खड़ा हुआ। थोड़ी

देर वह चुप बैठी उसका जाना सुनती रही, उंगलियों से नामालूम लकीरें मेज़ पर बनाती। फिर वह भी उठ खड़ी हुई। सिर हल्के-हल्के चकरा रहा था, "गोपालसिंह,ये प्याले उठा लेना।" कुर्सी पर बैठकर उसने आंखें मूंद लीं। क्या करेगी आज वह? दिन का सन्नाटा-भरा समूचा चिलकता विस्तार उसके सामने पड़ा था। उसने कलम में खूब देर लगाकर स्याही भरी और पैड सामने खींचकर मां को चिट्ठी लिखने लगी···'तुम्हारी चिट्ठी मिली। इस बार तो गर्मियों में मेरा आना शायद···' उसने हल्के से पेन दांतों से टकोरा। क्या कारण दे वह? कि उदय को छुट्टी नहीं मिलेगी? पर इसीलिए तो उन लोगों ने लिखा है कि अकेले वही चली आए। तो फिर वह लिख दे कि वह उदय को छोड़कर···? बकवास है! ज़िन्दगी-भर क्या वह भी अपनी मां की ही तरह अपने खाविन्द की परछाईं का देवरथ थामे अपने को अलोप करती जाएगी? उसने चिट्ठी फाड़कर मेज़ के नीचे रखी टोकरी में डाल दी। फिर उसने एक गिलास पानी पिया, एक कुछ तिरछी दीखती पेंटिंग सीधी की, एक रिसाले को स्टैंड पर रखा और फिर खिड़की खोलकर खड़ी हो गई। धूप जैसे हरहराकर कमरे में उफना आई। सड़क एकदम खाली थी। दो-एक दूधवाले साइकिल पर खाली कनस्तर खड़खड़ाते गुज़र गए। दूर कहीं सब्ज़ी वाली की पतली आवाज़ चील की तरह हवा में गोता लगा रही थी—'ले ऽऽ लौकी, पालक-भिण्डी तोरी ···' हर चक्कर के बाद दूर होती हुई···

'तुम वापस क्यों नहीं लौट जाती? कुछ दिन को ही सही।' क्या कल वह सोमेन्द्र को ज़रा लिफ्ट देती तो वह···? क्या बिल्लो अभी भी उसके बारे में कभी-कभी···? उसे बिल्लो के पति का ख़्याल आया, ऊंचा-लम्बा कद, कनपटियों पर संभ्रान्त आधी सफ़ेदी चमकती हुई, पतली आर्मी वालों की-सी मूंछें। अक्सर वे अपने शिकार और सैरों के लम्बे किस्से सुनाने लगते तो बिल्लो का चेहरा पत्थर की तरह भावहीन और जड़ हो जाता। उसके पति का हृष्ट-पुष्ट खिलण्डरपना शायद उसे बहुत थोथा और जिस्मी लगता था। खुद अपने रूहानी और बौद्धिक व्यक्तित्व के आगे

शायद वह···। छि:, कैसी कमीनी बात सोच रही है वह भी अपनी ही बहन के बारे में। कुछ तो उदय के कहे का असर है, कुछ शायद वही कहीं दिल्ली की नकल सामाजिकता के परिप्रेक्ष्य में एक हीनभावना पालती जा रही है। खिड़की बन्द करते हुए उसने होंठ भींच लिए। इस तरह सबके बारे में उल्टी-सीधी कमीनी बातें सोच-सोचकर कुण्ठा पालने से बहुत बेहतर होगा अगर वह कुछ दिन को मां के पास हो ही आए। उसने पर्दे खींच लिए। बस। हो गया निर्णय। कोई देरी लगी क्या? जाने क्यों उदय के सामने पड़ते ही फिर-फिर कोई किशोर दीनता हीं-हीं करती हुई झुकने लगती है। वह कोई बच्ची नहीं रही कि बस अनिश्चय में गोते लगाती पड़ी-पड़ी अपनी किस्मत को कोसती रहे।

"गोपालसिंह, देखो एक रिक्शा ले आना, स्टेशन जाना है।"

"रिक्शा?" गोपालसिंह के स्वर में किंचित् आश्चर्य था।

"हां," वह आलमारी खोलकर रुपये निकालने लगी।

रिक्शा ढूंढ़ने में काफी देर लग रही थी शायद। वह गोद में पर्स रखे काफी देर बैठी ही रही। उदय नाराज जरूर होगा। पहले तो भौंचक्का ही रह जाएगा। बिना कहे रिज़र्वेशन भी करा आई? इतनी गर्मी? न्‌? वह हौले से एक राज-भरी हंसी हंसी, कल्पना में वह उदय की उछलती उत्तेजना को अपने ठण्डे सहज कौतुक से ठोके गर्दन थोड़ी टेढ़ी किए बैठी थी।

बेकार मुझे कुछ करने-धरने नहीं देता। उदय अपने को समझता क्या है? क्या वही सब कर सकता है? शुरू में इतनी आसानी से न भी हो, अंततः सब हो ही जाता है, नहीं? जितनी जल्दी का रिज़र्वेशन मिल जाएगा करवा लेगी, उसने उमंग के साथ सोचा।

४

रिक्शा खासा पुराना और घिसा हुआ था, रिक्शे वाला भी। "यह

खींच भी पाएगा स्टेशन तक ?"

"डेढ़ रुपै को कहता था पर रुपै को बोल दिया है।" गोपालसिंह ने रिक्शे का हुड ऊपर कर दिया और फिर कुछ बुदबुदाया। शायद इस किस्म की कोई बात कि इतनी गर्मी में जाने क्या वगैरह। खैर। भाड़ में जाए उदय और उसके चोबदार। वह आत्मविश्वास से मुस्कराई "चलो।"

कांपता, हिचकोले खाता रिक्शा आगे बढ़ने लगा। काली पतली, झुर्रीदार टांगों पर से चमड़ी जगह-जगह सूखकर चिपकी हुई थी। फटी पड़ी एड़ियों पर फटे स्लीपर थपटने-से झूल रहे थे। एक थिचती-सी गति में झुककर रिक्शे वाले की पतली काठी हर बार एक खतरनाक ढंग से दुहरी हो जाती, इतनी कि लगने लगता कि अब वह सत्तर नहीं हो पाएगा। पर तभी एक अनुभव-से हिचकोले से वह फिर सीधी हो जाती थी। उसने चेहरा फिरा लिया। कुछ देर पहले छलकी पड़ती उमंग अब संदिग्ध जान पड़ने लगी थी। गर्मी बहुत तेज थी। उसने मुंह खोलकर सांस भरने की कोशिश की, जैसे शीशे के जार में तैरती मछलियां सतह पर आकर करती हैं। फिर उसने अपनी पसीजती मुट्ठी धोती पर पोंछ ली। हलका मटमैला, तेलिहा-सा एक निशान बन गया। धूप बहुत तेज थी। दूर तक फैली कोलतार से काली सड़क बीच-बीच में ऐसी रुपहली चमक रही थी जैसे पानी भरा हो। पर पास जाते-जाते वह रुपहलापन फिर एक काले फैलाव में तबदील हो जाता था, और पानी के चकत्ते कुछ और दूर जाकर बिखर जाते। एक भड़कीला-सा साइकिल-सवार जोर से उसे देखता हुआ निकल गया और दूर तक मुड़-मुड़कर देखता रहा। उसे झुंझलाहट-सी होने लगी। रिक्शा थम गया। चेन उतर गई थी। पोपले-से मुंह में कुछ बुदबुदाता हुआ रिक्शे वाला चेन चढ़ाने लगा। उसने इधर-उधर निगाह दौड़ाई। सड़क के दोनों ओर उदास-मटमैली बंगलियां थीं, जिन्हें देखकर लगता था कि सालों से उनपर पुताई नहीं हुई होगी··· मूंगे पेड़, मुरझाई-सी झाड़ियां, उसने सिर पल्लू से ढांप लिया। कानों में अजीब सीटियां-सी बज रही थीं। चरमराता-कांपता रिक्शा फिर चल पड़ा था।

टेशन पर उतरकर उसने रिक्शे वाले को नोट थमाया और मुड़ने
थी कि रिक्शेवाले का मुंह खुला, "अरे हजूर, इत्ती गर्मी में इत्ती दूर...।"
में दीनता कम, दबंग धमकी ज्यादा थी। पर्स खोलते रेजगारी तला-
उसे लगता रहा कि उसे भी गुस्से से प्रतिवाद करना चाहिए था।
खिर किराया तो पहले ही तय कर लिया था। पर लू के विराट झोंकों
बीच अपने या उससे उलझने की ताब उसमें थी कहां ? रेजगारी थमा-
कर वह चुपचाप आगे बढ़ आई। छत की छांव के बावजूद प्लेटफार्म पर
वही तपिश थी। ऊंची-ऊंची छतों से टंगे पंखे प्रागैतिहासिक पक्षियों के
कंकाल-से फड़फड़ाने लगते थे, हवा के उन छोटे-छोटे द्वीपों के तले लालवर्दी
वाले कुली जहां-तहां रानों तक धोतियां समेटे कटी लाशों-से पड़े थे। धीरे-
धीरे भपाते उनके पसीने की बोझिल रोमश गंध एक चादर की तरह टंगी
हुई थी। उसे मितली-सी आने लगी। धूप का चश्मा उतारकर उसने पर्स
में रख लिया, उसे अचानक वह एक गैरजरूरी ओछेपन का प्रतीक लगने
लगा था। प्लेटफार्म के छोर पर दूसरी ओर जाने की सीढ़ियां बनी थीं,
वह ऊपर चढ़ने लगी। पुल के नीचे पटरियों को काटती पटरियों का धूल
और कोयले से किरकिराता जाल बिछा था। बीच-बीच में जगह-जगह
अधटूटे कुल्हड़, कोयले की गिट्टियां, गंदगी के ढेर। हर चीज कतई व्यर्थ
और उपेक्षित नजर आ रही थी। पर शायद इस चिलक-भरे मौसम के
परिप्रेक्ष्य में किसी भी और पैटर्न की कल्पना ही नहीं हो सकती थी। सारा
कुछ लगता था कि धूप के तीखे भाले से बिधकर छटपटाते-छटपटाते एक
दम निश्चल हो गया हो — ऊंघते अधनंगे कुली, पटरियों पर पड़े मलबे
ढेर, बुक स्टाल पर बुत-सा टिका आदमी। जैसे इन सबके लिए समय धी
होते-होते एकदम रुक ही गया हो। और तो और, शंटिंग करते इंजनों
सीटियां और भपाती छकरछक्क भी गर्मी के अदृश्य शिकंजे तले एक घि
याई आवाज-भर बनकर रह जा रही थी। वह साड़ी संभालकर सी
उतरने लगी। उसकी पिंडलियां हल्के-हल्के दुख रही थीं। कुछ देर
के उत्साह की सोचकर ही उसे अजीब-सा लगा। क्या करने आई

वह ऐसी दुपहर में इतनी दूर, अकेली ?

धूप की कौंध से बचने को आंखें सिकोड़ते हुए उसने बुकस्टाल की लकड़ी खटखटाई। "रिजर्वेशन कहां होगा ? स्लीपर के लिए ?" ऊंघ से चौंककर बुकस्टाल वाले ने एक बेवकूफी-भरी चुप्पी से दो क्षण उसे घूरा जैसे उसके चेहरे पर लिखा कुछ पढ़ रहा हो, फिर एक ओर, उंगली कर दी। "उधर।"

"थैंक्यू।" वह मुड़ गई। पीछे वह आदमी उसकी आवाज की नकल करते पतले सुर में भिनभिनाया 'थैंक्यू ' साली अंगरेज की दुम बनती है। देसी कुतिया बिर्लैती बोल।" फिर दो-तीन उदासी-भरे अश्लील अट्टहास उसकी पीठ से टकराए। वह रुआंसी हो आई। पसीने में ब्लाउज भी लगता था पीठ में चिपका जा रहा था। अपनी पीठ की मांसलता पर उसकी निगाहें महसूस करती वह चुपचाप चलती गई। एक रेलवे की वर्दी पहने शख्स, उसे देखकर बाइयाकाने से मुस्कराया। "येस ?" उसने दांत भींचकर अपने-आपको संयत किया। कनपटियों पर गर्मी या शर्म से चींटियां-सी रेंग रही थीं। उसे प्यास भी लगने लगी थी। एक स्टाल पर कुछ शीशियों में पेय द्रव्य दीख रहे थे पर फिर उन्हीं निगाहों से अपने को चीथे जाते महसूस करते हुए अकेली वहां खड़ी होकर पीना ! इससे तो प्यास ही सही। उसने उदास होकर सोचा।

रिजर्वेशन की तख्ती वाला वह कमरा खाली था। एक नाराज-सा दीखता खलासीनुमा आदमी कुछ झाड़-पोंछकर रहा था। "रिजर्वेशन यहीं होते हैं ?"

"हां।" आदमी ने झाड़न से दो झुंझलाए वार एक भूरे रजिस्टर पर किए। "पर अभी बाबू नहीं है।"

"कब तक आएंगे ?" उसे लगा कि जैसे उसका सिर धीरे-धीरे चकरा रहा है। गला सूखा जा रहा था।

"का मालूम ? बैठ जाओ।" उसने बेंच की ओर झाड़न हिलाया। वह चुपचाप लकड़ी की उस हिलती बेंच पर बैठ गई। ऊपर एक पंखा

उनींदी बोझिल हवा को धीरे-धीरे काटता जा रहा था। छिक्कर-छिक्क-छिक्क-छिक्क। उसने यत्न से जमुहाई रोकी।

"कब तक शुरू होता है काम ?"

"जब बाबू आ जाएं।" खलासी ने ड्राअर से एक पिन निकाली और दांत खोदने लगा। "बारह बजे को है, आते होंगे, यहीं गए रहे थे कौनो काम से।" वह एक कोने में बैठकर पहले गुड़ीमुड़ी हो गया और फिर एक आश्चर्यजनक फुर्ती से पसरकर ऊंघने लगा। "ज्जा स्साली गर्मी।"

वह चुप बुत-सी बैठी रही। गर्मी के छोटे-छोटे चुनचुनाते रेले उसपर एक उनींदी निरन्तरता से आ-आकर टकरा रहे थे। कपड़े भीगकर बदन से चिपके पड़ रहे थे। वह मशीनी एकाग्रता से छत की कड़ियां गिनने लगी। बाहर कोई पटरियों पर घन से कुछ कूटकर बिठा रहा था शायद। टंग, टंग, टंग। इस्पात से इस्पात टकराने की आवाज़। मिचली और ज़ोर से आने लगी थी। फिर बाहर कोई ट्रेन आई शायद। एक हल्की हलचल-सी मची, कुछ मानव-आकार गठरियां लिए खिड़की के पास से गुज़रे, चाय, पान, बीड़ी की कुछ हल्की आवाज़ें आईं। फिर वही चुप्पी। छिक्कर-छिक्क···छिक्कर-छिक्क। छत के एक कोने पर कोई मकड़ी बड़ी व्यस्तता से जाला बुन रही थी। एक नियंत्रित आवेग में इधर-उधर चहलकदमी करती, फुर्ती से तारों का तनाव कातती हुई। उसने यूं ही पर्स खोल लिया और झांकने लगी : दो सिनेमा के पुराने टिकट, एक चाभी, एक नेलकटर, मुसा-सा एक रूमाल। उसने पर्स बन्द कर दिया। क्या तलाश रही थी वह ? छिक्कर-छिक्क···छिक्क-छिक्क। बाहर कोई कुत्ता शायद किसी की लात खाकर रिरियाया। उसने घड़ी देखी। एक बजने को था। दो-चार गंदे-से कपड़े पहने नौजवान जाने कब आकर खिड़की के पास खड़े हो गए थे और उसे सुनाने को ज़ोर-ज़ोर से बातें करने लगे थे। "क्या रक्खा है साली यूनिवर्सिटी में पढ़ने से। हम तो सोचते हैं कि कोई बिजनेस शुरू कर दें, एक बार चल निकले तो बस्स मज़े ई मज़े—क्यों पार्टनर ?"

दूसरे ने उसकी ओर इशारा कर दबे स्वर में कुछ कहा। "परज्जा।"

कर लिए। साड़ी की कोर गीली कैसे हो गई होगी भला ? एक भिनभिनाती भिखारिन कटोरे से रिक्शा की लकड़ी खटपटा रही थी। "ऐ माई तोर हा हा खाई, एई बुवनी तोहार वालक जीवें।" उसे न झुंझलाहट ही आई न दया ही। लगा रहा था कि जैसे भीतर की सारी संज्ञा चाकू से तराशकर निकाल ली गई हो···रिक्शा रुका तो उसने अचानक पाया कि वह घर आ गई है। उसीने रास्ता वतलाया होगा।

रिक्शे वाले को रुकने को कहकर वह वैसी ही स्वप्नाविष्ट-सी सीढ़ियां चढ़ गई। शारीरिक थकान उस सीमा तक पहुंच चुकी थी जब वह महसूस होनी बन्द हो जाती है। उसने घण्टी वजाई। घण्टी वजते ही दरवाजा खुल गया। घबराया-सा उदय सामने खड़ा। "ऐसी गर्मी में कहां चली गई थीं तुम ? मुझसे कहा तो होता, कार भेज देता। स्टेशन में क्या···"

उसने धीरे से अपने-आपको उदय के हाथ के घेरे से हटाया और पर्स से रेज़गारी निकाली। "गोपालसिंह, नीचे रिक्शे वाला खड़ा है, उसे दे देना।" उसे अपना दिमाग आश्चर्यजनक रूप से व्यवस्थित और ठण्डा लग रहा था। सिर्फ शरीर में ऐसी थकान भरी हुई थी कि हाथ का वल कुर्सी पर डालकर बैठने तक का ख्याल अजीव लगता था। वह कुर्सी में समा गई।

"अकेली क्यों चली गई थीं तुम ?" उदय तेज़ी से कमरे में चहलकदमी कर रहा था। ऐसी गर्मी में कोई घूमने का मौका है क्या ? गोपाल सिंह ने वताया कि वह स्टेशन गई है तो उसे पहला खयाल यही आया कि वह घर तो नहीं चल दी। फिर उसने कहा कि सामान नहीं ले गई तो कुछ भरोसा हुआ। ऐसी दुपहर में···

रजनी अपने हाथों को उलट-पलटकर ऐसे ताक रही थी जैसे कि कोई अजूबा हो।

"तुम इतनी जल्दी कैसे आ गए ?"

"मीटिंग नहीं हुई तो मैंने सोचा कि खाने के लिए घर ही आ जाऊं पर तुम वहां करने क्या गई ?"

उदय की आवाज़ का भयभीत आक्रोश पिघलकर एक राहत-भरी मसखरी में बदलने लगा था। "धूप सेंकने तो गई नहीं होगी, क्यों?"

रजनी ने कातर क्रोध से ओंठ भींच लिए। अचानक उसे बहुत नींद आने लगी थी। बस, कहीं किसी अंधेरे कमरे में नर्म तकिये में मुंह गड़ाकर सो सकती। हर झंझट से दूर हर प्रश्न से परे। काश!

"रिज़र्वेशन कराने।" आँखों में तिलमिली मच रही थी। नींद थी कि आंसू?

"पर मुझसे तो तुमने कहा था कि नहीं जाओगी?"

फिर वही प्रश्न, फिर वही कुरेदनी उत्सुकता। कहां जाओगी? किसलिए? किसी पुरुष के संदर्भ में जो सवाल निहायत बेहूदे लगते हैं वही एक औरत पर एक किस कदर खूबसूरत और थोथी भावुकता से चस्पा हो जाते हैं, ताज्जुब है। उसने सिर झटकारा।

"मुझसे कहा होता तो अब भी जाना चाहती रिज़र्वेशन हो जाता। खैर, यह सब हटाओ। पर कब जाती है तुम्हारी गाड़ी?" उदय के स्वर के सपाटपने के नीचे उबलते गुस्से को वह पहचान सकती थी।

"टिकट नहीं मिला, बाबू वहां नहीं था।"

उदय हंस पड़ा, रजनी ने खुद को खिसियानी और रुआंसी होती पाया। सोच-सोचकर उदय की हंसी और भी ऊंची हो रही थी। वह और भी खिसिया गई। कितने भोंड़े ढंग से उसने अपनी नाकारगुज़ारी का इज़हार कर डाला था। हालांकि यह बात नहीं कि उसे खुद अपने पोले निकम्मेपन का आभास नहीं था। "नया भी कुछ करोगी तो अपने ही ढंग का।" उदय ने स्वर को उदार कोमलता में ढाला। "बहुत थकी लग रही हो, ठण्डा पानी लोगी?" इस स्वर के भीतर का पुचकारा-भरा बड़प्पन उसे पहले के क्रोध से भी ज़्यादा तिलमिलाए जा रहा था। हे भगवान, मैं रोऊं नहीं, हे भगवान! उसने भिंचे दांतों के पीछे से मन ही मन दुहराया।

"उठो! उठो!!" उदय कुर्सी के पीछे खड़ा था। उसकी गर्दन पर उदय की उंगलियों का स्पर्श उभरा। "इतना दुःख, मनाने के

नहीं, टिकट आ जाएगा।"

वह हाथ को एक रौद्र झटके से परे फेंक देना चाहती थी पर जबरन रोके आवेग का रुद्ध प्रवाह बढ़ाव को स्प्रिंग की तरह ऐंठाए जा रहा था। वह चुप बैठी रही। गोपालसिंह साफ गिलास में खूब ठण्डा पानी रख गया था। वह पीने लगी।

उदय निष्प्रयोजन भंगिमा से पर्दे हटाकर बाहर देख रहा था—"बहुत गर्मी है।" उसने जैसे अपने-आपसे ही कहा। उसने पानी का आखिरी घूंट लेकर गिलास मेज पर रख दिया और तौलिया लेकर नहान घर में घुस गई।

बाल्कनी में आकर उसे हमेशा हल्का लगता था। उसने रेलिंग के पास कुरसी खींच ली और नीचे झांकने लगी जहां लड़कियों का एक किशोर झुरमुट सड़क के मोड़ पर खड़ा दबी-दबी आवाज में हंस रहा था। कभी कोई जरूरत से ज्यादह जोर से हंस पड़ती तो अपनी ही आवाज से सकुचाकर मुंह पर हथेली रख लेती, हाय! फिर वही दबी हंसी। उसके साथ की अधिकांश लड़कियां इससे बहुत भिन्न, बहुत खुलकर हंसती थीं। उनकी आवाजें, उनकी हंसी, उनकी दो-तीन सीढ़ियां एक साथ फांदकर उतरने की अदा, सबमें अपने से ज्यादा अपने परिवेश और भाषा का अमर्यादित दंभ था जिसे वे डंके की चोट पर जतलाती चलती थीं। नन्स के गुर्राट कानों के परे होते ही वे एक-दूसरे को याराना ढंग से अश्लील और फूहड़ भाषा-भरे किस्से सुनाती जो छुट्टियों में उन्होंने अपने भाइयों या दोस्तों से सुने थे। कभी-कभार वे टायलेट में छुपकर सिगरेट भी पी लेतीं। स्वाद के लिए उतना नहीं, जितना कि बराबरी के दावे के लिए। वे क्या लड़कों से कम हैं? पर क्या यह सब उतना ही कारुणिक और बेमानी नहीं था जितनी कि इन लड़कियों की दबी खिलखिलाहटें। क्या इन अरबों औरतों में से कुछ को भी खुलकर हंसना नहीं आता होगा? बगैर किसी आत्मसजगता के?

उदय बालों पर हाथ फेरता पास आ खड़ा हुआ था।

"अब ठीक हो?"

"हां।"

उसे पता नहीं क्यों उदय की ओर देखने में अजीब घिमियाहट-सी हो रही थी।

"मैंने कह दिया है। अगले हफ्ते किसी दिन उसी ट्रेन से तुम्हारी सीट बुक हो जाएगी, ठीक है? तुम पापा को लिख देना तो लेने आ जाएंगे, वर्ना बस लेनी पड़ेगी।"

"अच्छा।"

उदय की ओर देखते हुए उसने अपने-आपको धीरे-धीरे हताश और बौना होते पाया। जैसा बचपन में किसी धृष्टता के बाद अप्रत्याशित रूप से माफी मिल जाने पर होता था। पर उसने गलत किया क्या है? ताज्जुब है।

"लौटकर कब आओगी?" उदय अब उसके बाजू में सटकर खड़ा था। वह हंसने लगी। "अभी गई भी नहीं और तुम लौटने की पूछ रहे हो अभी से।"

"दरअसल···खैर, हटाओ भी। मैं शायद तुम्हें लेकर ज्यादा ही स्वार्थी हो जाता हूं।" उदय बैठ गया। हे ईश्वर! उसने कातर होकर सोचा, यह शहीदाना कुर्बानी वाले इस स्वर को वह क्यों इस्तेमाल कर रहा है? पर प्रकट में कुछ कहा नहीं, अपने हाथों को घूरती रही। चलें नाखून ही काट लें, उसने बेवजह सोचा। उदय कुर्सी पर बैठा उसे सीधा ताक रहा था। "तुम्हारी गाड़ी रात दस बजे छूटती है, मालूम है?"

"हां··· नहीं··· अच्छा!" वह अचकचा-सी गई।

"सामान भी पैक करना होगा। वहां ठण्ड होगी, गर्म कपड़े साथ रख लेना वर्ना बेकार में बीमार पड़ोगी।" उदय ने एक कामकाजी व्यस्तता से घड़ी पर नज़र डाली। "गोपालसिंह, ट्रांजिस्टर दे जाना, न्यूज़ का वक्त हो रहा है।"

गोपालसिंह ट्रांज़िस्टर रख गया। थोड़ी देर दोनों के बीच आकाशवाणी के प्रसारक की भावहीन आवाज़ बजती रही। वह बीच में उठकर अपना नेलकटर ले आई थी। कट्-कट्। उसने अपना हाथ रोशनी की ओर फ़ैलाया। नाखून कट जाने से उंगलियां अजीब नंगी-बौनी-सी लग रही थीं। पोरों का जो हिस्सा अभी तक नाखूनों से ढका हुआ था वह छिला-छिला-सा हो आया था।

"सुनो।" पोरों पर फूंक मारती वह उदय की ओर मुड़ी।

"क्या है ?" उदय ने ट्रांज़िस्टर बन्द कर दिया। खबरें खत्म हो गई थीं शायद। उसने हाथ उदय की ओर फैला दिया। "देखो।"

"क्या ?" उदय के स्वर में जिज्ञासा नहीं थी। उसे अपनी हरकत बचकानी और गैरज़रूरी लगने लगी थी। उसने हाथ समेटकर चुपचाप गोद में रख लिए। नीचे नाखूनों के अर्द्धचन्द्रकार टुकड़े पड़े थे। उसने चप्पल से सरकाकर उन्हें एक कोने में कर दिया।

"कुछ कहा क्या ?" उदय उठ खड़ा हुआ था।

"नहीं।" उसने नाखूनों के टुकड़े बीनकर गमले में डाल दिए।

"गंदी लड़की।" उदय ने हंसती भर्त्सना में उंगली हिलाई।

"शट अप।" उसने भी उसी लहजे में कह दिया। फिर दोनों उठ खड़े हुए।

५

गाड़ी रुकने से पहले ही उसने उन दोनों को देख लिया था। फिर शायद उन्होंने भी, और वे उसके डिब्बे की दिशा में तेज़ी से चलने लगे थे। मां को इतनी तेज़ी से नहीं चलना चाहिए, उनकी पीठ दुखने लगेगी बाद को, उसने उतरते-उतरते सोचा। मां उसे लिपटाते-सहलाते बोलती जा रही थीं। "सांवली होकर आई है इस बार, धूप में बिना छाते के निकल जाती होगी।"

"सामान यही है ?" पापा पूछ रहे थे। उसने सहमति में सर हिलाया। मां का शाल नया था। "कोई काश्मीर आ रहा था तो मंगवाया। तुझे पसन्द है तो तेरे लिए भी मंगा दूं ? बिन्नो तो लेती नहीं।"

इतनी गर्मी में शाल। वह हंसने लगी। "और तू चिट्ठी इतनी देरी से क्यों लिखती है, वो भी बस चार लाइन की ? बिन्नो चाहे दुनिया के जिस कोने में हो, हर हफ्ते दो बार या उसकी या नरेश की चिट्ठी आ जाती है।" आवाजें, आवाजें, परिचित ध्वनियां गंध, आकार। उसने नहाए कुत्ते की तरह झटकारकर अपने-आपको खोल लिया था। घर।

पापा ने दरवाजा भेड़कर गाड़ी स्टार्ट की। वे घर की तरफ रवाना हो गए थे। ठण्डी सड़कों के बल और कद्दावर पहाड़ों की मजबूती की आश्वस्ति। उसने खिड़की से सर निकालकर खुशनुमा हवा में गहरी सांस ली। वह पहाड़ों के बीच लौट आई थी। फिर से।

…बाहर लॉन पर मां और वह दोनों धूप में छोटी-छोटी बातों में घिरे हुए बैठे थे। मां के हाथों में बुनाई थी और वह यूं ही अपनी कुर्सी टेढ़ी-सीधी करती धूप में कोई आरामदेह कोण बनाकर बैठने की चेष्टाएं कर रही थी। मां कुछ बोल भी रही थी शायद, पर वह एक ध्वनि-भर थी। उसकी पीठ के परे दरख्तों के बीच कहीं बोल रहे फाख्ता के जोड़े की तन्मय 'घुग्घू घू : ऽ' की तरह। एक परिचित, अर्थहीन आहट-भर।

एक गुनगुनाती आत्मीयता को रचता हुआ, धूप के नरम तंद्रिल ताप में भीगा हुआ सब वैसा ही था जैसा कि सदा हुआ करता था। पगडंडियों के अनघड़ विस्तार से लेकर फूलों की क्यारियों तक। नीचे ढलवान की तरफ लगे फलों के पेड़ों पर फलों के छोटे-छोटे नर्म रोएंदार आकार उभरने लगे थे, पत्तियों में दुबके अभी वैसे कसैले होंगे, गिलहरियों-तोतों के लिए भी, उसने उनींदे आलस के साथ सोचा।

मां ने बुनाई की किताब उठाकर उसमें से कुछ निर्देश पढ़े और फिर होंठों में कुछ बुदबुदाकर गिनती हुई बुनने लगी। बुनाई जटिल थी

शायद। वह अपने को इस तरह की चीज़ों में रचा नहीं पाती कतई। बैठकर कोई भी एकरस काम देर तक करना पड़े तो दिमाग छटपटाते जानवर की तरह गोल-गोल दायरों में भीतर ही भीतर घूमने लगता था। मां की अलस एकाग्रता पर उसे हमेशा ताज्जुब होता है। उसने इधर-उधर नज़र दौड़ाई। पापा शायद टहलने निकल गए थे। घर धूप में सूखने डाले गये गलीचे-सा शिथिल पड़ा था। रंगीन उनींदे आकारों के नमूनों से रचा जाता एक श्लथ आकार। यहां धूप में वे दोनों पसरी बैठी हैं, पैण्ट्री में आया ऊंघ रही होगी, पिछवाड़े के क्वार्टर में माली और उसकी कानी कुतिया···

पैरों से अन्दाज़न चप्पलों को टोहती वह झटके से उठ खड़ी हुई।

"क्या हुआ? धूप तेज़ लगती है क्या?" मां ने अपने फन्दों के रोएंदार फैलाव के बीच से सर उठाया।

"नहीं। कोई किताब ले आऊं।"

"हल्का-फुल्का चाहिए तो क्लब की लाइब्रेरी से पापा मेरे लिए कुछ उपन्यास लाए थे, भीतर रेडियो के पास रखे हैं।"

"कैसे हैं? पढ़े तुमने कोई?" वह कुर्सी के पीठ के सहारे आगे-पीछे झूल-सी रही थी।

"अब हैं तो मेरी ही पसन्द के···" मां हंसने लगी। "ये तमाम मार-धाड़ और सेक्स और दिमागी उलझनों से भरे नये उपन्यास तो मुझे कभी जंचे नहीं। तुम और बिल्लो, मुझे चाहे दकियानूसी ही समझ लो।" मां ने ऊन का धागा तोड़ा और गिठान लगाने लगीं "अब ये अंग्रेजी उपन्यास हैं। चाहे इन्हें तुम लोग पुरानी चाल का रूमानी साहित्य ही कह लो पर इनमें एक तहज़ीब है, एक परम्परा है, कुछ वैल्यूज़···"

"हां ऽ।" वह धीरे-धीरे पैर घसीटती भीतर चल दी। मां अपने प्रिय विषय पर फिर चालू हो गई थीं। आधुनिक उच्छृंखलता और नये साहित्य में कोमलता का अभाव। दुर। कहीं भी कुछ नहीं बदला था इतने दिनों के

बाद भी। वही परिवेश, वही वार्तालाप, वही बहसें, कितनी छलनाओं में जीते हैं हम, नहीं ? उसने खिड़की से बाहर ताकते सोचा। बाहर की धूप के बाद कमरा काफी ठण्डा लग रहा था। उसने उपन्यासों की रंगीन ढेरी में एक छांटकर उठा लिया। सामने शीशे में उसका चेहरा एकदम सपाट था—भावहीन। न खुश, न दुःखी। टंगा हुआ। उसके जीवन में हर चीज बस एक अनिश्चय के बिन्दु पर आकर अटक गई मानो। चाहे वह वहां उदय के पास बैठी हो, या यहां धूप-भरे इस पुराने घर की परिचित पारिवारिक सुरक्षा में पसरी हुई। अगर वह यह सोचती थी कि वहां से इतनी दूर का यह फासला-भर उसकी उन तमाम कायर उलझनों और अन्तर्द्वन्द्वों से उसे अचानक छुटकारा दिला देगा तो या तो वह उसका निपट बचपना था, या भारी बेवकूफी। पर उम्र के इस मोड़ पर आकर इन दोनों में फर्क ही क्या रह जाता है, नहीं ?

मेज पर तार की गुलाबी रसीद पड़ी थी। उसने उठा ली। पापा हमेशा से अपने पुराने कायदों का पालन करते आए थे। उसके आने की सारी आकस्मिकता और हड़बोंग के बीच भी समय निकालकर कब उन्होंने उदय को उसकी पहुंच की खबर भेज दी, पता ही नहीं चला। 'रीच्ड सेफली'—तुम्हारा माल सकुशल पहुंच गया। मर्द से मर्द की बात। अपमान से उसकी लवें जलने लगी थीं। चाहे तो इस बात पर काफी हल्ला-गुल्ला मचाकर प्रतिवाद कर सकती है, पर उसका यह क्षणिक आवेग-भरा विस्फोट क्या उसके और बचकाने विद्रोहों की ही तरह न होगा ? क्या बदल जाएगा उससे ? बहुत होगा तो मां रो पड़ेंगी और पापा एक अनावश्यक तल्खी से कुर्सी सरकाकर घूमने निकल जाएंगे। उसने रसीद किताब में दबा ली और बाहर निकल आई।

…बाहर तिपाई पर ट्रे में काफी रखी हुई थी। मां ने उसे प्याला थमा दिया। "शक्कर चला लेना, अभी भी उतनी ही काफी पीती है तू ?"

"नऽहीं।" वह चम्मच से काफी में उग्र दायरे बनाने लगी। अचानक

उसे उन उचाट पीली दुपहरों का अनहद सूनापन याद आ गया था। गर्मी में बरसते हुए धूल-भरे वे किरकिरे मैदानी दिन, जिन्हें वह पीछे छोड़…

"इतनी गर्मी में यह सब पीने क्या बनाने की भी कौन…"

"हूं, गर्मी तो होगी ही।" मां फिर बुनने लगी थीं। "नीचे मैदान से तो जो भी आता है यही कहता है कि एकदम आग बरस रही है इस साल। अच्छा होता अगर उदय भी आ जाते।" मां की आंखों में हल्का झिझक-भरा इंगित-सा था कि वह चाहे तो शायद…। वह कुछ चिढ़ गई। वह कौन होती है किसीको बुलाने वाली? मां की यह पुरानी आदत है। आधे पूछे प्रश्नों से संशय की धुंध फैलाकर अपना दायित्व समेट लेना।

"नहीं, मैं तो एक बात कह रही हूं।" मां ने वाक्य पूरा किया।

"हूंह!" जैसे अपने प्रश्न की बेतुकी जिज्ञासा से इन्हें कोई मतलब ही नहीं। वह जानती है कि अभी फिर हर तीन-चार मिनट के बाद वही प्रश्न घुमा-फिराकर वे तब तक पूछती रहेंगी जब तक जवाब न मिल जाए। मां की जिज्ञासा की यह लाड़-भरी कुरेदन उसे हमेशा चिड़चिड़ा जाती है।

"तार तो मिल गया होगा?" मां ने काफी का घूंट लिया।

"हां ऽ, शायद।" उसने किताब खोल ली और पढ़ने का उपक्रम करने लगी।

"नीचे पाइन्स काटेज में…सुन रही हो क्या?"

उसने किताब से सयत्न सिर उठाया। मां पढ़ने को कभी भी इतना अहम नहीं समझती कि पढ़ने वाली की एकाग्रता भंग न की जा सके—खासकर, औरतों की।

"हूं ऽ?"

"नीचे पाइन्स काटेज में जो रमानी रहते हैं उनकी बीवी बता रही थीं कि उनकी लड़की भी तुम्हारे ही साथ स्कूल में पढ़ती थी।"

"कौन?"

"रमला या अमला कुछ ऐसा ही नाम था।" मां ने नुट्ठ से ऊन तोड़

दिया। एक हिम्मा पूरा हो गया। मुस्ट, वे अपनी बुनाई समेट रही थीं, "कुछ याद आई ?"

उसे कुछ-कुछ हल्की-सी याद आ रही थी। रमना रमानी, गोरी-लम्बी, भरे-भरे जिस्म वाली लड़की, कुछ-कुछ भूरे नाम्बई-से घने बाल। हर हफ्ते इतवार के दिन एक आध्यात्मिक तन्मयता से आइना लिए हॉस्टल की बालकनी में रेलिंग पर बैठकर चिमटी से अपनी भौंहें प्लक किया करती थी। वह मुस्कराने लगी। "हां, याद आई, सुन्दर-सी थी। लम्बी-गोरी, खूब बोलती थी।"

"सुन्दर तो मुझे खास नहीं लगी, पर हां बोलती काफी है। तेरे और बिल्लो के लिए अकसर पूछती रहती है। अपने बच्चे को लेकर आई हुई है आजकल।" मां कुछ रुकीं। "यूं जाना तो तुझे कई जगह था पर यहां ज्यादातर लोगों से तो शाम क्लब में मुलाकात हो ही जाती है। पुरानी टीचरों से मिलने कभी कान्वेंट चली जाना। बिल्लो अब भी जाती है ज़रूर…"

उसके भीतर कुछ तन-सा गया। हर बार घर लौटने का मतलब है एक सामाजिक परेड। इससे मिल लेना, उसके घर हो आना, उन्हें फोन कर लेना। किसलिए ? यह बखूबी जानते हुए भी कि उन तीन-चार हफ्तों की यह भद्र सामाजिकता उभयपक्षी रस्म अदायगी-भर है। यहां तो तब भी ठीक है, जब जाड़ों में मां-पापा अपने शहर में होते हैं तो इस लिस्ट में उन अनगिनत नातेदारों और पुश्तैनी दोस्तों के नाम जुड़ जाते जिनसे उसका ही नहीं, वास्तव में उसके माता-पिता का भी कोई खास सम्पर्क नहीं। "चलो तुम लोग आ गए तो इसी बहाने हमारी भी मुलाकात हो जाएगी वर्ना आने की सोचते-सोचते महीनों निकल जाते हैं हैं।" जिन लोगों से मिलने के लिए बहाना तलाशने की जरूरत पड़ जाए उनसे जबरन मिलने का तुक ? बिल्लो तो हमेशा गर्मियों में आती है तो उसका उन सबसे सामना नहीं होता। होता भी तो वह साफ इन्कार कर देती। उसे ऐसी पिच-पिच से साफ कतरा जाना पसन्द था। पर वह न ना

कह सकती है न हां। हमेशा की तरह असमंजस में कसमसाती अंततः मां के पीछे-पीछे चल ही देती है। फिर वही ऊबाऊ शिष्ट वार्तालाप, चाय-नाश्ते का गरिष्ठ सिलसिला और जम्हाई दबाते वापस। मां से कहो तो कहेंगी कि संबंधों की डोर ऐसे ही जुड़ती है या इसी किस्म की कोई और थोथी रूमानी व्याख्या।

"मैं तो छुट्टियों में यहां आकर खास कहीं आती-जाती नहीं। बस, कभी ज़रा क्लब चले गए या थोड़ा-बहुत इधर ही टहल लिया। ज़्यादा चलने से अब मुझे चक्कर-सा आने लगता है,सो तुम्हारे पापा तो अकेले ही घूमने जाते हैं ज़्यादातर। इन लोगों को बिना डेढ़-दो मील चहल कदमी किए खाना ही हज़म नहीं होता शायद।" मां मुस्कराने लगी। स्वर में खीज या क्रोध नहीं, सिर्फ अपनी नाज़ुक स्त्रियोचित कमज़ोरी और पापा की शारीरिक महत्ता की लाड़-भरी स्वीकारोक्ति-भर थी। उसे मां से हल्की जलन-सी हुई। कितनी आसानी से वे हर चीज़ को एक ज़ायकेदार रूमान में लपेटकर देखने लगती है, चाहे अपने नारीत्व की असहायता हो या पापा की इस्पाती मर्दानगी का चमकीला क्रूर अहसास। उसने होंठ काट लिया और किताब से खोया पन्ना तलाशने लगी।

तोतों की एक हरी पांत फलों के किसी पेड़ पर जा पड़ी। माली के बच्चे उन्हें भगाने को टीन पीट रहे थे—ढम्म···ढम्म। कभी लगता है कि भीतर की एक छटपटाती रिक्ति शायद मातृत्व से भर पाएगी, पर कहीं ऐसा न हो पाया तो? उदय शायद ठीक कहता था कि अपने भीतर उत्तर तलाशने की बजाय बच्चे को तलाश का माध्यम बना लेना एक दूसरी कायरता नहीं होगी क्या? पर वह खुद क्या चाहती है भला? मां की सतयुगी सूक्तियों और उदय की ठण्डी तार्किकता के परे कुछ और भी तो हो सकता है। है कि नहीं? उसने किताब बन्द करके रख दी और कुर्सी के पीछे हाथ बांधकर पसर गई।

"बिल्लो का कैसा चल रहा है सब?"

"अच्छा ही है।" मां का स्वर अनिश्चित-सा था। "नरेश की ट्यूब-वेल एजेंसी खूब चल निकली है वहां, बस उसीमें लगे रहते हैं। बिल्लो एक छोटी मैगज़ीन छापने की सोच रही है।"

"किस बारे में ?" वह उत्सुकता से सतर्क हो बैठी। यह बिल्लो का पुराना अरमान था। लिखना-छपवाना। दूसरों का लिखा छापना शर्तिया उसे खूब गुदगुदाता होगा। यहां थी तब भी कभी-कभी अंग्रेज़ी की हिन्दुस्तानी पत्रिकाओं में कुछेक कविताएं छपती थीं उसकी। स्कूल की मैगज़ीन में मदर सीलया ने पुरानी छात्राओं की खबरों में इसका सगर्व उल्लेख भी किया था शायद।

"कैसी मैगज़ीन ?" उसने प्रश्न दुहराया।

"पता नहीं, मुझे तो वह यह सब लिखेगी नहीं।" मां का स्वर उदास था। "कविताएं या कहानियां कुछ ऐसा ही होगा। तुझे नहीं लिखा कुछ ?" मां के स्वर में करुण जिज्ञासा थी। पता नहीं क्यों जब से वे दोनों बड़ी हुई हैं मां को हमेशा लगता रहता है कि वे दोनों उनकी पहुंच के कुछ परे हैं, एक झिझक-भरी दूरी जिसे लांघना शायद वे अब चाहती भी नहीं।

"ज्यूरिख से एक पिक्चर पोस्टकार्ड-भर आया था। इस साल गर्मियों की छुट्टियों में सब यूरोप गए हैं, तुम्हें भी तो लिखा होगा।"

' हां ऽ आशा तो हमने लगा रखी थी कि शायद इस साल हिंदुस्तान आ जाएं। पर यहां रखा भी क्या है ?"

मां के स्वर की आत्मदया उसे कुछ गड़ी-सी। पर वह कह क्या सकती है ? आखिर छुट्टियां तो बिल्लो और नरेश भाई की अपनी है, जहां मन करेगा जाएंगे। वैसे एकाध हफ्ते को यहां आ ही जाते तो·· मां-पापा साल-भर उनके और बच्चों के आने के दिन गिनते रहते होंगे। उसने किताब फिर खोल ली। मां बुनाई समेटती उठ गईं। "कुछ खास बनवा दूं खाने में ?"

"जो तुम चाहो।"

मां अन्दर चली गई तो उसने फिर किताब बन्द कर दी और दूर नीचे

माल पर घूमते रंगीन चित्ती-से आकारों को देखने लगी। विल्लो हमेशा से घर में अहम रही थी। विल्लो हमेशा से उससे ज्यादा जहीन, ज्यादा वाचाल और ज्यादा हंसमुख थी। पारिवारिक दंतकथाओं में से प्रायः हरेक में उसका खुद का बचपन में खासा चिड़चिड़ा और कमजोर होना बताया था। एक बार मां ने भी कहा था कि जब वह हुई थी तो वे तकिये में मुंह छिपाकर खूब रोई थीं। विल्लो की बार तो तब भी ठीक था। सबने कहा था कि पहली लड़की लक्ष्मी होती है, वगैरह। पर उस दफा सबको बेटे की आस थी। इस बात से पता नहीं क्यों उसके भीतर का वह एक अजीब-सा अपराध-भाव और भी अधिक गहरा गया था, जैसे कि यह उसीकी गलती हो, हालांकि मां का मतलब यह कतई नहीं रहा होगा, पर फिर भी तो…। उसने किताब फिर खोल ली और पढ़ने की कोशिश करने लगी। यह बात नहीं कि उसे यह तब कभी खला हो। बच्चों का मन अपने घरेलू अहमियत के वर्गीकरणों को बड़ी आसानी से सोख लेता है और फिर जब तक वे दोनों दस-ग्यारह साल की हुई तो साथ-साथ होस्टल ही भेज दी गई थीं। घर से उसके बाद सिर्फ छुट्टियों का ही रिश्ता रह जाता है—एक फुर्सती, अदब-भरा, उबासी लेता अपरिचय का जिज्ञासा-हीन विस्तार-भर। शायद एक खास उम्र के बाद बहनें जिस बिन्दु पर मां-बाप से टूटती हैं, उसीपर एक-दूसरे से और अधिक गहरे से जुड़ती जाती हैं, या शायद तब मां वह दीवार बन जाती है जिसे ठेलकर वे अपनी नई चमकीली वैयक्तिकता की परख करती जाती हैं, जैसे नया बछेरा पहले मां पर दुलत्ती झाड़ता है। शुरू-शुरू में साथ के लिहाज से होस्टल में दोनों को एक ही कमरा दे दिया गया था। उसे अभी भी वे दिन स्पष्टता से याद हैं। पहाड़ की नीम-धुंधली उदास शामें, सात बजे वे रात के खाने के बाद अपने-अपने कमरों को भेज दी जाती थीं। फ्लैनल की सफेद लम्बी सोने की पोशाकों में तकिये पर कुहनी टिकाए वे दोनों आमने-सामने लेट जातीं और घण्टों मां के बारे में बोलती रहतीं। उसे विल्लो की सूक्ष्म परख पर ताज्जुब होता था। कई-कई बातें तो उसे

मूझनी ही नही अगर वह न साफ करती तो। बातें करते-करते उसे मां असामान्य रूप से क्रूर, दंभी और क्षुद्र लगने लगती, इतना कि कभी अपने ही खींचे खाके के सच हो उठने का डर उसे जड़ बना डालता। रात मे बुरे-बुरे सपने मे वह अक्सर चौंककर उठ जाता, प्रायः हर तीसरे-चौथे दिन उसे सपने मे दीखता कि मां किसी दर्दनाक रोग से जूझती हुई मर रही है, या मां की निश्चल देह सामने पड़ी हुई है और वह जैसे पाताल से झांककर बमुश्किल सब देख पा ''सिरहाने रखा कुनकुना पानी भिंचे हलक मे नीचे उतारती वह देखती कि बगल के पलंग पर बिल्लो भात-फ़िकर पड़ी सो रही है, जैसे कि बातें करके उसने अपने भीतर के उन सारे भूतों-हौवों से छुट्टी पा ली हो। हो भी शायद, क्योंकि हर हफ्ते अपनी लम्बी साप्ताहिक चिट्ठी को वह मजे मे 'माई डार्लिंग ममी' से सम्बोधित कर दो पन्ने आनन-फानन लाड-भरी खबरों से रंग डालती जब कि वह घण्टों दांत पर पेन टकोरती, और लड़कियों के पैड पर उभरते अक्षर ताकती रहती—क्या लिखे वह ? यह मां से कभी बिल्लो की सहजता से रंगीन रेशमी साड़ी या अधिक जेब खर्च या बड़े केक की फर्माइश नही कर पाती थी। बहुत होता तो फैला-फैलाकर आधे पन्ने मे अपनी पढ़ाई का विवरण भर देती और आधे मे मौसम वगैरह की बात। बाकी सब तो बिल्लो लिख ही देती थी।

एक बार छुट्टियों मे जब वे मां-पापा के पास गए हुए थे तो मां ने किसी उत्सव के लिए उन दोनो को अपनी साड़ियां पहनने को दी थीं। किसी बुजुर्ग रिश्तेदार की तरह साड़ी हाथ में तोलते हुए बिल्लो ने उससे कहा था। 'ऐसा भारी वाली हमे नही दी कि हम गंदी कर देंगे।' उसने तैश मे साड़ी तुरत जाकर मां के पलंग पर रख दी। पर जब वह अपने सबसे बदरंग कपड़े पहनकर निकली थी तो पाया था कि बिल्लो ने मां की दूसरी साड़ी ही नही पहनी थी, बल्कि मांग कर उनके कर्णफूल भी पहन डाले थे, और कंगन भी। 'यह क्या जोकरों की-सी पोशाक है !' पापा ने उससे कहा था और वे सब हंस पड़े थे। 'जा बदल ले, अभी वक्त है,

हम रुक जाते हैं।' मां ने पुचारा दिया था पर उसके भीतर तीखे गुस्से की नोक और भी चमकीली हो लपलपा पड़ी थी। 'मैं तो यूं ही जाऊंगी।' रास्ते-भर वह किसीसे एक शब्द नहीं बोली थी। पता नहीं क्यों उसे लगता रहा कि बिल्लो ने उसके साथ दगा किया है। आज से वह अकेली ही भटकने को छोड़ दी गई है अपने सारे गुस्से और आहत अभियोगों समेत, जिन्हें कोई भी गौर से नहीं सुनेगा। किसीने इसके बाद उससे कुछ नहीं कहा था। सिर्फ मां की कोमल-भूरी आंखों में एक हल्का विषाद सा कुछ गहराया था जो अपने सारे गुस्से के बावजूद उसके भीतर कांच की किर्च की तरह चुभता रहता था। शायद अनजाने, अनचाहे ही उसने मां को हमेशा यह अहसास दिलाया है कि वह कहीं उनकी कसौटी पर पूरी नहीं उतरती है। पर अब सोचने पर लगा है कि ज्यादातर तकरारों में उसके माध्यम से बिल्लो ही मां से जूझती रहती थी। कैसे हम एक झूठे अभिमान की ओट में रिश्तों का अपनत्व भुरभुराता हुआ देखते जाते हैं और जब तक कुछ करने लायक इच्छा समो पाते हैं, दूरियां अकाट्य हो चुकती हैं।

धूप से अचानक उसके सिर में दर्द होने लगा था। उसने पट से किताब बन्द की और भीतर जाकर लेट गई। मां की आवाज़ प्रत्याशित रूप से तुरत गूंजी "क्या है? सर में दर्द है क्या? आया से कह दूं, दाब देगी?"

"नहीं, ऐसे ही।" उसने दीवार की ओर करवट बदलकर आंखें बंद कर लीं। कुछ ही क्षणों में आया की परिचित कड़वी, हल्की, मसालेदार गंध सिरहाने उभर आई। वह पूछ रही थी कि सिर दाब दे क्या?

"नहीं भाई।" उसने आंखें खोलीं। आया की छोटी-छोटी आंखें पीली उत्सुकता से भरपूर थीं।

"कुछ चक्कर-उक्कर का हिसाब है?"

"नहीं भाई, सोने दो मुझे।"

आया ढिठाई से फर्श पर फसकड़ा मारकर बैठ गई और अभ्यस्त हाथों से माथा दबाने लगी। घट्टेदार हथेली का परिचित स्पर्श उसे बुरा नहीं लगा।

बगीचे की क्यारियों की तरह आया भी घर का एक अन्दरूनी स्वयंभू अंग है। कब आई थी, उसे याद भी नहीं। उसका पति बंगले का स्थायी चौकीदार और माली है और जब से शायद बंगला बना है साल-दर-साल वह बगीचे और घर की रखवाली करता रहा है। मां-पापा पहले सिर्फ छुट्टियों में ही आते थे, पर रिटायर होने से कुछ साल पहले उन्होंने इसे खरीद लिया था। अब साल में चार-पांच महीने तो इधर ही रहते हैं, बाकी महीने आया और माली। पिछवाड़े के क्वार्टर में कहीं उनके वे अनगिन बच्चे हैं जो गिलहरियों की तरह पेड़ों पर चढ़ते-उतरते, चिल्लाते-धींगामस्ती करते, रहते हैं। अब आया उसे अपनी बड़ी लड़की रत्ती की शादी के बारे में बता रही थी। कितनी बड़ी होगी रत्ती? सोलह? पन्द्रह? इत्ती-सी थी जब वे स्कूल से छुट्टी में आते थे। उनकी उतरन की पोशाकों में और भी छोटी-दुबली और निरीह लगती।

"क्या करता है तुम्हारा दामाद?" उसने उनींदे स्वर में पूछा।

"बैरा लगा है, उधर आपके क्लब में। मां मिम्बर्फ है।"

"रत्ती खुश है?"

"अरे खूब खुश है।" मां पता नहीं कब आकर कुर्सी में बैठ गई थी। "पन्द्रह तोले की चांदी की करधनी दी है,दो जोड़ी पाजेब—और क्या-क्या आया?" उन्होंने मजाक में पुचारा दिया जैसे किसी बच्चे को अभ्यागतों के सामने कविता सुनाने को कह रही हों। आया सब गिनाने लगी, कित्ता आया, कित्ता दिया, कित्ते बराती थे। फिर अचानक रुककर भेद-भरे स्वर में बोली "अब पाव भारी है, भादों तक खबर है।"

कमरे में कुछ क्षण चुप्पी रही। जाहिर था कि उसे रत्ती के उस नितान्त अप्रत्याशित दहेज या उतनी ही प्रत्याशित जचगी पर कुछ कहना चाहिए था पर वह चुप रही। आया ने ही मौन तोड़ा। "मुर्झा गई है छोटी बेबी हमारी, नई मेम साब? बिल्लो बेबी को देखो, दो-दो बच्चों के साथ जस की तस धरी है।"

मां चश्मा लगाकर बिल्लो की अभी आई चिट्ठी पढ़ रही थीं।

"तुम्हें भी याद किया है।"

"खुस रहें, खुस रहें।" आया गद्‌गद हो उठी, "यहां कब आएंगी मेम साब?"

"क्या पता, शायद अगली गर्मी में ही आएगी।"

"अच्छा लगेगा तब। बाबा-बेबी भी आ जाते हैं तो कोठी में रौनक हो जाती है। बच्चोंई से तो रौनक होती है घर की।" बहुत अर्थपूर्ण नज़र से आया ने उसे देखा···उसकी स्पष्ट झुंझलाहट पर मां हंस पड़ी। "आया तो बस इसी इंतज़ार में है कि तुम्हारी बारी कब होगी।"

"और क्या, दो साल तो हो ही गए, नई मेम साब?" तो तुम्हें क्या? वह रुखाई से कहना चाहती थी पर चुप रही। आया इधर मां की काफी चहेती हो गई है। वह चौंकी। क्या उसे जलन हो रही है? पर सोचो तो यहां उनके इस निपट उचाट अकेलेपन की साथिन तो वही है, वहां मैदानों में तो बेशुमार लोग हैं मिलनेवाले, रिश्तेदार, मित्र—कार से आने-जाने का भी साधन है। यहां बंगले तक तो कार आती नहीं, पैदल ज़्यादा चलने से मां की तबियत खराब हो जाती है। घर में बैठे-बैठे रूमानी उपन्यास पढ़कर कोई कितना समय निकाल सकता है भला?

मां ने चिट्‌ठी को शायद पन्द्रहवीं बार पढ़कर चश्मा उतार लिया था, और गोद में दोनों हाथ धरे हुए खिड़की के बाहर ताक रही थीं। उसे कभी लगता है कि सांसारिक जटिलताओं और मां-पापा के उनसे निबटने को बैठाए गए उन अनेक ताल-मेलों के प्रति उदय और उसकी उदासीनता उन्हें खासा निराश करती जाती है। नरेश भाई को समझना उन्हें कतई कठिन नहीं लगा होगा, शादी से पहले उन्हें लेकर चाहे जो भी पूर्वाग्रह रहे हों। एक तरह से उन दोनों पक्षों का मानसिक संसार एक-सा है। सरल, खुला, एक पुरानी आत्म-मुग्धता में घिरा हुआ। मां को देखते ही नरेश भाई तपाक से प्रणाम में दोहरे हो जाते हैं और वे निहाल। मां के व्यक्तित्व का यह अतीतजीवी रूमानी पहलू चतुराई से मापकर नरेश भाई उनके सामने हर बात पुश्तैनी परम्परा के दायरे में खींच ले जाते हैं। पुराने

नौकर-चाकर, हवेलियां-बावड़ियां, उत्सव-महोत्सव, मीरासनें-खवासनें इन सबके लच्छेदार प्रसंग मां की उस भीतरी दुनिया का अनिवार्य अंग है, जिसमें वे वर्तमान के कड़वे-भोंथरे उघड़ेपन को छेंके रहती हैं। और मां की ही तरह बिल्लो की आत्मसज्जा देहाती पोशाकें,नाक की जड़ाऊ नथनी और आदिवासी झोले में रखी पनडिब्बी, क्या तनिक सजा-संवारकर उसी झलमले अतीत को जा पकड़ने की ललक नहीं दिखाती ? 'वजह चाहे कुछ और हो। पर वैसे मन में सोचो तो क्या यह भी कभी हो सकता है भला ? उसे तो कभी यह नहीं लगा है कि उसके दिमागी फैलाव में कहीं कुछ ऐसा है जिससे आ जुड़ते ही दसकथाओं का वह सामंती अतीत सबक से उसके भीतर उजागर हो जाएगा। चलता, फिरता पुनर्स्पंदित। पर फिर यह भी नहीं, तो उसके लिए कौन-सा प्रसंग सच रह जाता है ? महारानी विक्टोरिया के जमाने से उधार ली गई बोहरा जैसे लोगों की काल्पनिक साहबियत ? वह और उसके जैसे वे सैकड़ों तन्नाए फिरते युवा लोग हैं क्या ? किस समाज या संस्कृति की धुरी से छिटके अंग हैं वे सब ? इस विकराल नंगी धूप से तपाते क्रूर माहौल के ऐन बीचों-बीच अपने छोटे-छोटे छलावे के दुर्ग रचते हुए···

"खाना अभी लगा दूं या जरा देर में।"

"हां, हां, लगा दो। मैं जरा हाथ-मुंह धो लूं।"

"सो रही थीं ? " पापा की भूरी आंखें नरमाई से मुस्करा रही थीं। वह भी मुस्कराने लगी।

'हां, सब कसर निकाल रही हूं ?"

"उदय दौरे पर गए हैं कि यहीं हैं ?"

"यहीं है।"

"अपने क्षेत्र में नाम तो बहुत अच्छा है उसका।" पापा धीरे-धीरे रुक-रुककर कौर चुभला रहे थे। "इतने कमिटेड और नौजवान हों तो कहना ही क्या ? क्या जवाब दिया यूनिवर्सिटी को उसने ?"

“कैसा जबाब?” मां ने पानी का एक घूंट लिया, और प्रश्नसूचक आंखों उसे देखा।

“एक प्रोफ़ेसरशिप देने की बात थी। शायद जगह खाली थी वहां।”

“तो फिर? अमरीकन यूनिवर्सिटी में प्रोफ़ेसर नियुक्त होना तो काफी बड़ा सम्मान है, नहीं?”

मां की ललक हल्के से उसके भीतर कहीं जा चुभी। या शायद उसमें अपनी चाहना की प्रतिध्वनि पाकर वह अव्यवस्थित...

“क्या था, तीन-चार साल तुम भी साथ में घूम आतीं—वापस आकर तो जो चाहे वो नौकरी उन्हें मिल ही जाती। नहीं?”

“उदय तो वहां सिर्फ तफ़रीह को नहीं जा रहा था। मेम साहब, उसका काम पहले आता है, किस तरह की प्रोफ़ेसरशिप थी, कैसी यूनिवर्सिटी थी, यह सब भी तो देखना होता है। वह तो वहां इतना रह चुका है, सब जानकर ही निश्चय किया होगा।” पापा हंस दिए।

“खैर, यह तो तुम लोग समझो, मैं तो प्रैक्टिकल बात कहती हूं, तीनेक साल में तो वहां कुछ और खासा रिसर्च कर सकते थे।”

“यहीं क्यों नहीं कर सकते?” रजनी की आवाज़ में उसकी पुरानी ज़िद की गुस्सैल गंध थी।

“अरे यह सब तो क्या जानूं, पर मैं सब यही कहते हैं कि इस लाइन में जो सुविधाएं वहां हैं यहां कतई नहीं हैं। फिर चाहे, तुम भी वहां कुछ कोर्स-वोर्स कर लेतीं।”

“कैसा कोर्स?” रजनी ने चम्मच प्लेट पर रख दी। उसके हाथ उत्तेजना से कांप रहे थे।

“घर की सजावट या रुई-भरे खिलौने बनाने का या फ्रेंच कुकिंग का

“तुम हमेशा इतने थोथे प्लान क्यों बनाती हो? तुम सोचती हो कि तुम्हारे इन सब चालू घरेलू नुस्खों से घिर कर मैं खुश रहूंगी?”

“क्यों बेकार उसे बह रही हो!” पापा हमेशा की तरह मौके गंभीरता फांदकर बात को मामूलीपने की तरह रगेद रहे थे।

"हमें तो बड़ा फख्र है कि सब देख-सुनकर भी उसने अपने ही देश में रहने की ठानी है, वर्ना चली जाती हमारी-तुम्हारी यह वाली बिटिया भी दस हजार मील दूर, जैसे बिल्लो जा बैठी है। अरे आया, प्लेट ले जाओ।" कुर्सी खिसकाकर पापा उठ खड़े हुए थे। हाथ धोने को बाहर जाते वे मां से धीमे से कुछ कह रहे थे। उसीके बारे में कह रहे होंगे, उसने सोचा। उसने तौलिया टांग दिया और बाहर आ गई। कहीं कुछ नहीं बदलता। एक हमीं होते हैं जो एक स्थिति से दूसरी तक भागते हुए इस प्रक्रिया में अपने अधूरेपन की काट खोजते फिरते हैं। नहीं ?

धूप अब कुछ तेज हो चली थी। यानी कि देर तक बैठने लायक नहीं रही थी। वह नीचे झांकने लगी। ढलवान पर पेड़ों से अघढके घरों की लाल-भूरी, जंगखाई टीन की छतें बीच-बीच में दिख जाती थीं। वहीं रमला भी बैठी होगी। शायद नाखून रंगती या भवें नोचती हुई। वह हंसने लगी।

"वहां धूप तेज होगी। भीतर आ जाओ न।" मां अपने कमरे की खिड़की से बाहर झांक रही थी।

"रमला अभी यहीं होगी न ?" उसने पलंग के पैताने पांव समेटकर बैठते हुए पूछा।

"आराम से लेट इधर, काफी जगह है।"

वह मां के बगल में जाकर लेट गई। मां की खुशबू वैसी ही थी। टेलकम पाउडर और पसीने की हल्की मिली-जुली नर्म और आरामदेह गंध। मां की त्वचा इस उम्र में भी उससे अधिक चिकनी है। उसकी रंगत पिता पर गई है।

"यह अंगूठी नई है क्या ?" मां उसका हाथ सहला रही थी, "और भी दुबली होकर आई है इस बार। खाना-वाना वक्त पर नहीं खाते होंगे तभी। अभी समझते नहीं हो तुम लोग बाद में···"

"उदय की मां की है।"

"तेरी सास का तो और भी काफी जेवर होना चाहिए। उन लोगों में तो काफी देते हैं।"

मां का 'उन लोगों' उसके गले में कुछ अटका-सा। उदय की मां हैदराबाद के किसी मुस्लिम परिवार की महिला थीं। उनकी खानदानी रईसी के बावजूद उनका हिन्दू न होना मां की गुप्त आचार-संहिता में इनके खिलाफ जाता था। हालांकि उदय के पिता से उन लोगों का पुराना परिचय था।

"उन लोगों का जेवर तो बहुत भारी होता है न?" मां की चटख दुनियादारी उसे फिर चुभी।

"मैं क्या जानूं, उन्हींकी तो चीजें थीं।"

"सो तो है पर जाना तो कायदे से बहू को ही था न। ऐसी अचानक मौत नहीं हुई होती तो दे ही जातीं।"

"का हुआ था, उनको मेमसाब?" आया कुछ और पास सरक आई थी।

"मोटर टकरा गई थी कहीं", बस। होश भी नहीं आया। उदय आठेक का रहा होगा। फिर उन्होंने दुबारा शादी नहीं की। बड़े भले आदमी थे। बस अपने काम से काम और पढ़ाई-लिखाई। जब तक जिन्दा रहे, ऐसे ही।"

आया की आंखें परीलोक के विवरणों की तरह बातें लीले ले रही थीं। "अच्छा बेबी ने तो नहीं देखा होगा उनको, नई?"

"नहीं,ज्यादातर तो बाहर ही रहे दोनों बाप-बेटे, फिर इसकी शादी से तीन-चार साल पहले गुजर ही गए। होते तो कितने खुश होते।"

"किस बात पर?" उसने उद्धतपने से करवट ली "मुझे देखकर?"

मां हंसने लगीं, "लो। अब इसे कौन समझाए? अरे उस जमाने के लोगों में बच्चों के लिए कैसी माया होती थी, तुम लोग क्या समझोगे? उदय के ही कारण तो शादी नहीं की दुबारा।"

"तब फिर उदय को हमेशा घर से इतनी दूर क्यों रखा? खुद

बाहर थे तो उसे वहां बोर्डिंग में रखा, जब लौट आए तो उसे बाहर भेज दिया।" वह आया को छेंकने को अंग्रेजी में बुदबुदाया। "खूब मजे किए थे उन्होंने भी। प्ले वाय कुंवारों की तरह, मैंने क्या यह सब कहानियां नहीं सुनीं ? एक रहती तो थी…"

मां ने हाथ उठाकर रोक दिया। हमेशा की तरह मां मजाक में भी अपने रूमानी मिथक भहराकर गिरने देना नहीं चाहती थीं, "ऐसी बातें तो कहनी क्या सोचनी भी नहीं चाहिए। बड़ों के बारे में।" मां के स्वर की गरिष्ठ आदर्शवादिता उसे हमेशा बुझा जाती है। वह चुप हो गई। पर आया का दिमाग अभी भी मां के लगाए रूमानी जंगलों में फिर रहा था। "अरे बारेक साल और रह जाते इनके ससुर जी तो चाहे पोता-पोती खिला लेते, नईं मेमसाब ?"

"तुम्हारा बस चले आया, तो तुम खुद ही दो-चार और पैदा कर डालो, नहीं?" पर उसका व्यंग्य आया की खुशमिजाज कल्पनाओं से टकरा-कर भोंथरा हो गया। मां और आया हंसने लगीं।

"अरे इसका अब क्या होगा, अब तो इसकी छुट्टी है, वह भी बन्द हो गया।" मां ने अर्थपूर्ण भंगिमा से आया की ओर देखा। "और क्या मेम साहब।" आया भेद-भरे अंदाज में स्वर पास खींच लाई। "बारे साल से हमारा जो 'वो' शुरू हुआ तो बस तेरमें में रत्तो पेट में, बस तब से… छुट्टी हुई, बन्द हुआ, सो वर्ना जाने क्या-क्या और…।"

"तो फिर औरों से बच्चे पैदा करने को क्यों कहती फिरती हो ? खुद को तो कहती हो कि छुट्टी मिली।"

"अरे बेबी, गरीब आदमी को इत्तो संतान भगवान क्यों देता है! जाने अब आपका बेटा-बेटी हो तो हाथों-हाथ लेंगे यहां सब कोई। इधर अपने ही पेट को पूरा नहीं पड़ता तिसपर ले दनादनी हर साल एक और ! भगवान की माया है, और क्याऽ ? हमींने पाप किए होंगे।"

आया अब मां के हाथ दाब रही थी। मां की गोरी-गुदाज बांहों पर उसकी पतली सूखी घट्टेदार उंगलियां केकड़े की टांगों की-सी टेढ़ी

चपलता से रेंगने लगी थीं।

"अच्छा, आया, तुम्हारे कुल कितने बच्चे हैं?"

"ये लो।" आया पायरियाग्रस्त सूजे मसूड़े दिखाकर हंस दी। उसके पीले-काले दांत कौड़ियों की तरह एक खतरनाक पोलेपन से जबड़ों में अटके हुए थे। कितने साल की होगी वह? चालीस? पैंतालीस? "सात तो हुईं। दो छः-सात महीने के होके नई रहे, चार कच्चे गए, अब गिन लेव आप।"

मां ने पैर समेटकर साड़ी की कोर नीचे की। "अच्छा आया, अब जाओ तुम वर्ना चौकीदार फिर झल्लाएगा तुमपर, दरवाजा भिड़ाती जाना वर्ना मक्खियां घुस आती हैं।"

दोनों हाथों से घुटनों पर वजन डालती, आया खड़ी हो गई। "बेबी के पांव दाब दें?" रजनी ने झटके से पांव समेट लिए। "नहीं-नहीं, यह सब हमको अच्छा नहीं..."

मां उसकी हड़बड़ाहट पर हंस पड़ी। "अच्छा रहने दो, अब तुम जाओ, वर्ना फिर डांट खाओगी मरद की।"

"अरे इसे माता ले जाए।" आया ने उग्रता से हाथ झटकारे, "सुबै-शाम उसके और उसके बच्चों का धंधा करें तो पांच मिलट बैठकर सुसता भी नहीं सकते? सच्च कहते हैं बेबी, औरत का ज़लम परभू दुसमन को न दे। हां नहीं तो, सारी अलाय-बलाय झेलो तो भी जिसे देखो सोई आंखें दिखाता है।" बुदबुदाती हुई आया बाहर चल दी। कुछ देर एक कुनकुनी तंद्रिलता फैली रही। "भाग्य की हीन है बेचारी, और क्या।" मां ने पढ़ने का चश्मा लगाकर एक किताब उठा ली थी। "इन लोगों में औरतों की हालत बड़ी खराब है।" उन्होंने पन्ना पलटकर पढ़ना चालू कर दिया था शायद। रजनी चुपचाप छत पर सीलन से बने पुराने दाग को ताकती रही। आया की लड़की रत्ती उससे कुछ ही छोटी होगी। अपने पिता के मरकहे गुस्से और मां की चिरन्तन झल्लाहट से थर-थर कांपती वह अक्सर उसकी पढ़ने की मेज़ के पास दुबकी बैठी मिलती थी। "जी

देवी जी, हमें कोई काम दे दीजिए वर्ना अभी अम्मा बुला लेगी।" तब अपनी दया के कतरे बड़प्पन से उसपर टपका देना! कितना गरिमामय और सहज लगता था! अब तो आया के प्रति मां की स्वाभाविक उदारता भी कहीं से कुतर खाती है। या शायद जो सच में खटकता है वह है यहां की सारी जिन्दगी में बसी उस पुरानी-शर्मनाक व्यवस्था की गंध, जिसकी सुरक्षा ऊपर तक तानकर उसने अपनी जिन्दगी के पूरे अठारह साल एक तनावहीन-घटनाहीन शून्य में पनपते हुए बिता दिए थे। बिना प्रश्न पूछे, बिना उत्तरों की अपेक्षा किए—मां के नमकीन रूमान को हल्के-हल्के चेतना की नोक से सराहते हुए।

मां के हाथों ने उसे कुछ हल्की चादर या शाल-सा उढ़ाया। उसने संप्रयास आखें बंद रखीं। इस वक्त किसी हल्की लुत्फ-भरी चर्चा में आकण्ठ सुगबुगाने का खयाल ही अजीब-सा लगता था। फिर मां ने जम्हाई लेकर चश्मा मेज पर रखा शायद; और फिर उनकी सांसों की नियमित आवाज आने लगी। वे सो गई थीं शायद। उसने चित लेटकर आखें खोल लीं और हथेलियां फैलाकर ताकने लगी। हथेलियां देखने से दुःख बढ़ता है। किसने कहा होगा? किसीने कहा होगा या कहीं पढ़ा था? कमाल है। उसे तो यह भी याद नहीं रहता। शायद मां की तरह उसके भी मानसिक और व्यावहारिक संसार की दूरी ऐसी घटती जा रही है कि शायद दसेक साल बाद धूप में एक कुर्सी डाले वह भी स्वेटर का नमूना बुनती, आया से बतियाती अपने विगत इतिहास परम्परा के रूमानी उजास में गदराई बैठी होगी। अगर अभी से उसने कुछ नहीं किया तो। उसने झटके से चप्पलें पहन लीं और बाहर आ गई।

नीचे ढलवान से डाकिया ऊपर आ रहा था। जिस साल उनकी शादी होने वाली थी वह घण्टों यहां खड़ी डाकिये की बाट जोहती थी। अक्सर खत आते भी थे। उदय की छोटी-सी लिखाई में लिखे नियमित-हल्के खत। उदयसे उसकी मुलाकात न्यूयार्क में हुई थी। वह गर्मी की छुट्टियां

विताने विल्लो-नरेश भाई के पास गई हुई थी। हमेशा की तरह उनके अपार्टमेण्ट में पार्टियों का एक अनवरत सिलसिला चलता रहता था। कई वार कई मेहमान अपने दोस्तों को लेकर आ जाते थे, शहर में होती हुई अनगिन पार्टियों में एक के वाद एक से गुज़रते। उन्हींमें किसीका दोस्त उदय भी रहा होगा। उस दिन वह हमेशा की तरह चुपचाप भीड़ के वीच से खिसककर वच्चों की नर्सरी में जा सोने की फिराक में थी कि अचानक गलियारे में रोककर किसीने उससे वर्फ मांगी थी। ज्यादा समय वहां रह चुकने से उसके लहजे में एक हल्की विदेशी गंध थी जो हमेशा उसे चिड़-चिड़ा जाती थी। वर्फ चुक गई थी, एक ढीठ झटके से फ्रिज का दरवाज़ा भिड़ाकर उसने वताने को मुंह खोला ही था कि उदय ने कहा था, चलो वगल के किसी ड्रग स्टोर से ले आते हैं। वह मुस्करा रहा था। उसकी आंखें हल्की भूरी-हरी थीं—धूप-छने शहद की तरह। चलो, उसने कहा था यहां कुछ करने को था नहीं, न किसीसे खास परिचय था। आधी छुट्टियां तो यहां यूं ही निरुद्देश्य सड़कों, पार्कों, म्यूज़ियमों की आश्वासन-भरी नामहीनता में घूमते वीत गई थीं, उसे नींद आ रही थी। लिफ्ट का वटन दवाते हुए उदय ने उसे वताया था कि वह विल्लो-नरेश को नहीं जानता था, यूं ही अपने किसी दोस्त के साथ आ गया था। वह आकस्मिक संकोच में सिमटी चुप खड़ी रही। क्यों चली आई होगी वह ऐसे ? शायद, वहुत उनींदी थी, या शायद वहुत उकता चली थी। किस क्लास में हो ? उसने वड़े भाई के पुरमज़ाक लहजे में पूछा था। उसने तन्नाकर कहा था कि वी० ए० कर चुकी है। उसने कालेज का नाम वताया तो उसने कहा, था कि वह तो लड़कियों का कालेज है। उसे हंसी आ गई थी। 'मैं भी तो…' नहीं, मेरा मतलव यह नहीं पर अजीव-सा ही लगता था तुम्हें हमेशा लड़-कियों के साथ पढ़ते हुए। 'नहीं तो।' उसने उसी संजीदगी के साथ जवाव दिया था। फिर और खास वात नहीं हुई थी। दो-चार दिन वाद विल्लो ने वड़ी अर्थपूर्ण कंजी शरारत से उसे देखते हुए कहा था कि उनके एक दोस्त का उन दिनों निमंत्रण आया है। उसका एक दोस्त है, विल्लो ने

नरेश भाई की ओर एक आंख दबा दी थी, 'जो रज्जू पर एकदम लट्टू। मानो हुक-लाइन सिंकर।' नरेश भाई ने एक धौल लगाई थी। 'क्यों भाई छुपे रुस्तम।' वह खिसियाहट से रुआंसी हो गई थी। जब उदय से वे लोग मिले तो वह उसी खिसियाहट से चुप रही थी। फिर बिल्लो ने हमेशा की तरह हर चीज की बागडोर हाथ में ले ली थी। आप्रवासी हिन्दुस्तानियों की अधिकतर मजलिसों की तरह यह अपेक्षाकृत छोटी और बहुत मंजीदा ढंग से हिन्दुस्तान की चर्चा से भरी गोष्ठी थी। वह फिर ऊबने लगी थी। लोग खूब बोल रहे थे, दर्शन, इतिहास, कानून से भरी पुरजोर पिचपिच बहसें। उसे इतनी आक्रामक संजीदगी से भरी यह निरर्थक बातें आतंकित करती थीं, तब भी और अब भी। यह नहीं कि इनमें से कोई भी हिन्दुस्तान वापस जा बसने की स्वतंत्र इच्छा रखता हो, पर बोलना तो था ही, क्योंकि अपनी हिंदुस्तानियत का यही आडम्बर-भरा इजहार उन्हें अमरीकी समाज के उस विराट मोक्ते में खोने जाने से बचा सकता था। 'शायद ऊब रही हो?' उदय ने पूछा था। फिर वे दोनों काफी देर सड़कों पर टहलते रहे थे। घर वालों से परे उसे उदय से बोलना इस वक्त ज्यादा कठिन नहीं लगा था। शायद वही ज्यादा बोलती रही थी, जभी शेरा सब वे स्टेशन की सीढ़ियां चढ़ते हुए उसे अचानक शर्मनाक खयाल आया—"मैं ही बोलती रही, तुमने तो कुछ पूछा ही नहीं।'

'पूछो।' वह हंस दिया था। रजनी और भी खिसिया गई थी। शर्मीले व्यक्ति के आकस्मिक मुंह फटने से उसने अचानक उदय से पूछा था कि उसका भविष्य के लिए क्या इरादा है? उसने कहा था कि कोई खास नहीं। फिर थोड़ी देर बाद रुककर उसने कहा था कि शायद इस महीने के अंत तक वह हिन्दुस्तान वापस चला जाए।

'हमेशा-हमेशा के लिए?'

'हां, हमेशा-हमेशा के लिए।' उसने कहा था और हंस पड़ा था। वह कुछ कुढ़ गई थी, 'तुम तो वाकई बच्चों की परीकथाओं की ही भाषा इस्तेमाल करती हो।' उसने चिढ़कर कहा था कि इसमें कोई खास हैरतअंगेज

बात है क्या ? वह तुरन्त चुप हो गया था। पर इन छोटी-छोटी नुकीली झड़पों के बावजूद अक्सर वह आ जाता था और वे देर तक मैनहटन की उन हड़बड़ाती-हांफती-अनर्गल सड़कों पर टहलते रहते थे। उसे यह भला लगता था। उदय से उसके संबंधों का तनाव, उदय की विपरीत प्रकृति की सान से पैना कर कुछ देर को असमंजस और उकताहट की उस राख-रंगी धुंध को छांट जाता था जो उसके भीतर ही भीतर धधकती रहती थी।

बिल्लो ने तुरंत मां को लम्बी चिट्ठियां इस बारे में लिख डाली थीं। लड़का अच्छा था। हिन्दुस्तान जा रहा था। और क्या ज़्यादा खुचड़ निकालना ? उसकी छुट्टियां बीतते न बीतते उन सब लोगों ने उसके और उदय के प्रति एक चिड़चिड़ा देने वाली समझदार चुप्पी अख्तियार कर ली थी। इतनी, कि जाने से कुछ दिन पहले उसने उदय से मिलना बन्द कर दिया था। कोई तमाशा है क्या ? जिसे देखो हाथ मल-मलकर पीठ थपथपा रहा है।

उसके आते ही मां ने तुरत अपनी भावुकता का रेशमी खोल चढ़ाकर पूरे प्रसंग को अपने दायरे में समेट लिया था। इतने दिन वह उनकी अधिकार-परिधि से दूर जा रही थी। उसे अपनी लाड़-भरी जिज्ञासा से कुरेद-कुरेद कर उदय के आते न आते उन्होंने उसके और उसके परिवार से सम्बद्ध सारे विवरण सोख लिए थे। मां का यह महाउत्साह कहीं उसकी खुशी को कुन्द करता जाता था। क्या कभी कोई चीज़, कोई घटना, कोई सम्बन्ध ऐसा नहीं होगा जिसपर उंगली टीपकर वह यह कह सके कि हां, यह मेरा एकदम निजी है ? मां का ज़रूरत से ज़्यादा स्निग्ध-वाग्-विलास उदय को भी प्रायः आतंकित कर देता था। उनके कमरे में घुसते ही वह फड़फड़ाते हुए कुछ ही देर में उठ खड़ा होता। 'अच्छा अब चलूं ?' फिर इधर वह जाता और उधर मां की लच्छेदार विरुदावली शुरू हो जाती। 'इतने बड़े घर का लड़का है। मां हिन्दू भी नहीं पर तहज़ीब देखो, तपाक से उठकर प्रणाम करेगा। यही तो खानदानी लोगों की···, वगैरह··' ब्योरा सुनते-सुनते उसे लगने लगता कि मां की बातों में बिंधकर उदय

का दिमाग एक खाका, एक कार्टून बनता चला जा...

उसने एक बेदर्द ठोकर मारकर पत्थर का टुकड़ा नीचे बगीचे की ओर लुढ़का दिया और उझककर आवाज सुनने लगी। दीवार के नीचे पगडंडी वाला हिस्सा बिच्छूबूटी, गुलबाक और कई नामहीन कंटीली झाड़ियों में अटा पड़ा था। उसी हरी वनराई के बीच उसका पत्थर कहीं खो गया था। सिर्फ उसके गिरने की हल्की आवाज-भर बच रही थी। थोड़ी देर वह आँखों से पत्तों की सिहरन का पीछा करती रही, फिर मेड़ पर ही बैठ गई। धूप के बावजूद पत्थर ठण्डे और नम थे। उसे भला लगा। उदय क्या कर रहा होगा? टहनी से आकारहीन लकीरें उकेरते हुए उसे ख्याल आया। शायद आफिस में होगा या साइट पर निकल गया होगा। उदय की काम-काजी जिन्दगी के प्रति वह इतनी निरुत्सुक क्यों होगी, उसने सोचा। पर उदय की ही क्यों? अपनी भी तो शायद। पर यह क्या सिर्फ दिमागी आलस-भर है? क्या उसकी निष्क्रियता उस गहराती नैराश्य भावना से कहीं नहीं जुड़ी हुई है जो मां से लेकर उसके मात्र स्त्रियों के लिए वाले स्कूली 'विमेन तक फैली हुई है—उस लाड़-भरे 'और भावुक दमघोंटू जकड़ के तले वह अपने को धीरे-धीरे मुट्ठी की तरह इस कदर मस्त भींचती चली गई थी कि अब खुलने की कल्पना-भी आतंकित करती है। उसे मालूम है कि विल्लो का मुंहफट फर्राट जीवन-दर्शन मां को उतनी ही अव्यवस्थित और असहज बना देता है जितना कि उसका अंतर्मुखी चुप्पापन।

मां भी उस गूढ़ आचारसंहिता में पुरुष का गंभीर होना एक रक्षावप्रद गुण है पर औरत की चुप्पी का अर्थ ही है मानसिक अशांति। शायद वह पटर-पटर बोलती साड़ी-गहनों के नमूनों, प्रसाधन उपकरणों या अपने ससुराल के खानदानी किस्सों के टुकड़े छिटकारती चलती तो वे उसे भरपूर सुख से झेलतीं, पर अपने सारे मूक अभियोगों समेत वह उनके उस दिमागी गुरुत्वाकर्षण-क्षेत्र से ऐसी छिटक आई है कि...

"कुर्सी लगा दूं बेबी?" चौकीदार कोने से नमूदार हुआ।

"नहीं, ठीक है।" वह उठ खड़ी हुई। घड़ी देखी तो पांच बजने को थे। पहाड़ों का दिन ढलते पता ही नहीं चलता, नहीं?

मां तरोताज़ा बनी हुई, आया से चाय लगवा रही थीं।

"तुम सोई नहीं दिन में?"

"नहीं, काम कुछ है नहीं, बस खाती हूं और पड़ी रहती हूं, नींद भी नहीं आती ऐसे तो।" उसने मेज़ से एक बिस्कुट उठा लिया और कुतरने लगी।

"वहां कौन करता है सब? गोपालसिंह है अभी?"

"हांऽ, वही सब देख लेता है।"

मां केतली से चाय प्याले में लौट रही थीं। सुनहरी खुशबूदार धार से उड़ते भाप के नन्हे-नन्हे बादल, "अच्छी चाय है, कौन-सी है?"

"अच्छी है न?" मां भेद-भरी पुलक से मुस्कराईं। "बिल्लो-नरेश के दोस्त हैं एक टी एस्टेट् में। पिछले साल जाड़ों में बर्फ देखने आए थे तो यहीं कोठी में टिके थे। इस बार अचानक बड़े से बाक्स में यह भेज दी। उन्हींकी स्पेशल ब्राण्ड है कोई, शायद सिर्फ एक्सपोर्ट के लिए बनाते हैं। उसने हाथ बढ़ाकर प्याला ले लिया और चम्मच चलाने लगी।

"दूध और दूं? कम लगता है।" मां ने दूधदानी की ओर हाथ बढ़ाया।

"नहीं, फिर दूधिया स्वाद ज़्यादा आने लगेगा। ऐसे ही स्वाद लगती है। हमारे यहां तो गोपालसिंह पता नहीं क्या भूसा-सी पत्ती डालता है, एकदम बेस्वाद।" उसने चाय की चुस्की ली।

मां ने आंख की कोर से पैण्ट्री की ओर देखकर आया की अनुपस्थिति का जायज़ा लिया और फिर अंग्रेजी में उसे बताने लगीं कि इन नौकरों से ज़रा चौकस रहना चाहिए वर्ना खूब फायदा उठाते हैं ये लोग। एक तो जब से मंहगाई बढ़ी है खाने की चीज़ों की कीमतें ऐसी बढ़ गई हैं···वगैरा वह सिर झुकाए सुनती रही। मां हमेशा की तरह इस मुद्दे पर सही थीं।

अपनी सारी कमजोरियों के बावजूद उनके कुशल गृहिणी होने की दाद देनी ही पड़ेगी। अभी तक घर में उनकी मर्जी के बगैर पत्ता भी नहीं खड़क सकता था। इधर जब से पापा रिटायर हुए हैं। उनकी खाली जिन्दगी को अनुशासन में बांधने का काम भी उन्होंने उठा लिया है। उन लोगों ने हमेशा पापा को बहुत व्यस्त, बहुत गंभीर और बहुत सत्ता के साथ घर के भीतर छन-भर को घुसने वाले अजनबी-सा ही जाना था। रिटायरमेण्ट के बाद घर में उनकी सतत मौजूदगी शायद मां को भी कहीं खटकती है या शायद पुरुषों का यह बेहद कामकाजी, बेहद सुनहला और लापरवाह रूप एक चालू मिथक-भर है जिसे गदराई प्रतीक्षा में बैठी उनकी औरतें उनके चारों ओर निरंतर बुनती, कातती, फैलाती रहती हैं। होते-होते शायद वह जाल इतना सघन हो जाता है कि जब पुरुष के इन फुर्सती दिनों की सपाट आत्मीयता अचानक दोनों के दरम्यान आन खड़ी होती है तो वे बिदक जाती हैं, एकदम आतंकित होकर।

"हूं ?" वह चौंकी, मां कुछ कह रही थी।

"चाय पीके तैयार हो ले, फिर जरा बलब चले चलेंगे।"

"पापा ?" उसने दरवाजे की ओर ताका।

"अभी सोकर उठे हैं। चाय वहीं पी रहे हैं। याद है, हमेशा कहते थे कि रिटायर होने के बाद रोज दिन-भर सोऊंगा, जब से होश संभाला काम ही किया।"

"सोते हैं रोज ?" वह हंसने लगी। पापा का आराम करना एक नितान्त अकल्पनीय बात थी। कम से कम उन लोगों के लिए। मां भी हंस पड़ीं। "और क्या, सुबह-शाम टहलने चले जाते हैं, बाकी वक्त ढेर सारे बैंक और शेयर्स के कागज और फाइलें, दर्जनों चिट्ठियां उन सबको, अखबारों के एडिटर्स को। पापा को तो अभी भी बस काम ही काम है।" मां की मुस्कराहट ऐसी थी जैसे कि किसी दुदांत बच्चे के भोले क्रिया-कलापों का ब्योरा दे रही हों।

"और तुम ?" उसने चाय का आखिरी घूंट लिया।

"नहीं, ठीक है।" वह उठ खड़ी हुई। घड़ी देखी तो पांच बजने को थे। पहाड़ों का दिन ढलते पता ही नहीं चलता, नहीं?

मां तरोताज़ा बनी हुई, आया से चाय लगवा रही थीं।

"तुम सोईं नहीं दिन में?"

"नहीं, काम कुछ है नहीं, बस खाती हूं और पड़ी रहती हूं, नींद भी नहीं आती ऐसे तो।" उसने मेज़ से एक बिस्कुट उठा लिया और कुतरने लगी।

"वहां कौन करता है सब? गोपालसिंह है अभी?"

"हांऽ, वही सब देख लेता है।"

मां केतली से चाय प्याले में लौट रही थीं। सुनहरी खुशबूदार धार से उड़ते भाप के नन्हे-नन्हे बादल, "अच्छी चाय है, कौन-सी है?"

"अच्छी है न?" मां भेद-भरी पुलक से मुस्कराई। "बिल्लो-नरेश के दोस्त हैं एक टी एस्टेट में। पिछले साल जाड़ों में बर्फ देखने आए थे तो यहीं कोठी में टिके थे। इस बार अचानक बड़े से बाक्स में यह भेज दी। उन्हींकी स्पेशल ब्राण्ड है कोई, शायद सिर्फ एक्सपोर्ट के लिए बनाते हैं। उसने हाथ बढ़ाकर प्याला ले लिया और चम्मच चलाने लगी।

"दूध और दूं? कम लगता है।" मां ने दूधदानी की ओर हाथ बढ़ाया।

"नहीं, फिर दूधिया स्वाद ज़्यादा आने लगेगा। ऐसे ही स्वाद लगती है। हमारे यहां तो गोपालसिंह पता नहीं क्या भूसा-सी पत्ती डालता है, एकदम बेस्वाद।" उसने चाय की चुस्की ली।

मां ने आंख की कोर से पैण्ट्री की ओर देखकर आया की अनुपस्थिति का जायज़ा लिया और फिर अंग्रेजी में उसे बताने लगी कि इन नौकरों से ज़रा चौकस रहना चाहिए वर्ना खूब फायदा उठाते हैं ये लोग। एक तो जब से मंहगाई बढ़ी है खाने की चीज़ों की कीमतें ऐसी बढ़ गई हैं···वगैरा वह सिर झुकाए सुनती रही। मां हमेशा की तरह इस मुद्दे पर सही थीं।

अपनी सारी कमजोरियों के बावजूद उनके कुशल गृहिणी होने की दाद देनी ही पड़ेगी। अभी तक घर में उनकी मर्जी के बगैर पत्ता भी नहीं खड़क सकता था। इधर जब से पापा रिटायर हुए हैं। उनकी खाली जिन्दगी को अनुशासन में बांधने का काम भी उन्होंने उठा लिया है। उन लोगों ने हमेशा पापा को बहुत व्यस्त, बहुत गंभीर और बहुत सता के साथ घर के भीतर छन-भर को घुसने वाले अजनबी-सा ही जाना था। रिटायरमेण्ट के बाद घर में उनकी सतत मौजूदगी शायद मां को भी कहीं खटकती है या शायद पुरुषों का यह बेहद कामकाजी, बेहद मुनक्षा और लापरवाह रूप एक चालू मिथक-भर है जिसे गहराई प्रतीक्षा में बैठी उनकी औरतें उनके चारों ओर निरंतर बुनती, कातती, फैलाती रहती हैं। होते-होते शायद वह जाल इतना सघन हो जाता है कि जब पुरुष के इन फुर्सती दिनों की सपाट आत्मीयता अचानक दोनों के दरम्यान आन खड़ी होतीहै तो वे बिदक जाती हैं, एकदम आतंकित होकर।

"हूं ?" वह चौकी, मां कुछ कह रही थी।

"चाय पीके तैयार हो ले, फिर जरा क्लब चले चलेंगे।"

"पापा ?" उसने दरवाजे की ओर ताका।

"अभी सोकर उठे हैं। चाय वहीं पी रहे हैं। याद है, हमेशा कहते थे कि रिटायर होने के बाद रोज दिन-भर सोऊंगा, जब से होश सभाला काम ही किया।"

"सोते हैं रोज ?" वह हंसने लगी। पापा का आराम करना एक नितान्त अकल्पनीय बात थी। कम से कम उन लोगों के लिए। मां भी हंस पड़ीं। "और क्या, सुबह-शाम टहलने चले जाते हैं, बाकी वक्त ढेर सारे बैंक और शेयर्स के कागज और फाइलें, दर्जनों चिट्ठियां उन सबकी, अखबारों के एडिटर्स को। पापा को तो अभी भी बस काम ही काम है।" मां की मुस्कराहट ऐसी थी जैसे कि किसी दुर्दांत बच्चे के मौन क्रिया-कलापों का ब्यौरा दे रही हो।

"और तुम ?" उसने चाय का आखिरी घूंट लिया।

"मेरी समझ में तो यह सब हिसाब-किताब आता नहीं। धूप में बुनाई करती रहती हूं या कुछ पढ़ लिया। मैगज़ीन वाला मैगज़ीन के साथ नई किताबें भी दे जाता है।"

"वही रामदयाल बुकस्टोर वाला है न जिससे हम कामिक्स लेते थे?"

वह हंसने लगी। याद है उसकी दुकान के बोर्ड पर कितने सारे गलत हिज्जे थे और बिल्लो कहती थी, "कि किताबों की दुकान पर अनपढ़ होने का कैसा बढ़िया नमूना है, नहीं?"

दोनों हंस पड़ीं, सुखद पारिवारिक यादों में पगी-पगी-सी। हर पुराने घर में ऐसी सामूहिक यादें जगह-जगह चूड़ी की जगमगाती किर्चों-सी बिखरी रहती हैं, पर सिर्फ टुकड़ों को ही भींचकर पूरा अतीत फिर जिया जा सकता है क्या? शायद नहीं।

"बिल्लो भी होती इस वक्त···" मां ने सांस खींचकर शायद खुद से ही कहा। वह चुपचाप चम्मच से खाती रही सर झुकाए। मां फिर बुझ गई थीं।

"चल तू भी तैयार हो ले।" वे कुर्सी खिसकाकर उठ गई।

वह अपने कमरे में आ गई। ऐसे वापस लौटने-भर से अकेलापन घटता नहीं और भी गहराता जाता है, यह बात उसने पहले क्यों नहीं सोची होगी भला? शायद उदय को कुछ-कुछ आभास रहा होगा कि वह इस तरह···अचानक उसने वापस लौटने की इच्छा को उबकाई की तरह गले में उभरते पाया। वह शीशे के सामने बैठकर बालों में कंघी फिराने लगी। शीशे के किनारे फ्रेम की लकड़ी पर जूड़े की पिन से उकेरा एक तीर बिंधे दिल का आकार का बना हुआ था। बिल्लो ने उन दिनों बनाया था जिन दिनों नरेश भाई से उसकी तूफानी कोर्टशिप चल रही थी। दिल के भीतर दो अक्षर खुदे थे बी० एन० और चारों ओर घने बेल-बूटे। अजीब ज़माना था वह भी! पापा पहले शादी के पक्ष में एकदम नहीं थे। नरेश भाई उम्र में तो आठेक साल बड़े थे ही तिसपर खासे खिलंडरे रईसज़ादे के रूप में मशहूर थे। पर बिल्लो की ज़िद इस विरोध से और भी पुख्ता

होती चली गई थी। रोज रात खाने की मेज पर वे नाटकीय संवाद शुरू हो जाते थे जिनकी शुरुआत दोस्ताना बहसों और अन्त मां के रो पड़ने या पापा के कुर्सी खिसकाकर तनातन बाहर निकल जाने से होता था। पता नहीं क्यों उस पूरे दौरान लगता रहा था कि उनके अलावा इस मेलो-ड्रामाई स्थिति का वे सभी बड़े जायके से रसास्वादन करते रहे थे, अपने आंसुओं, गर्जनों और हरकतों के बावजूद। बिल्लो को अपने मनोवैज्ञानिक आक्रोश और किताबी भाषा को उगलने का मौका मिला था, दादा को मर्दाने प्रतिरोध के जोशीले इजहार का और मां? वह तो जैसे भावुकी और हिस्टीरिया के कगार पर खड़ी सदा एक ट्रेजेडी की प्रतीक्षा करती रहती थी—उफ्, कितनी क्रूर और ओछी बातें सोचती है वह भी। शायद अगर उनमें से कोई गलती पर था तो वही खुद।

मां ने दरवाजे से झांका। "तैयार हो?"

"हां।"

६

उनके घर की ढलवान जहां खत्म होती थी, वहीं पहाड़ की तलहटी पर एक छोटा मैदानी विस्तार था। उसके छोर पर समय की ताप-झुरी लकड़ी की इमारत गुड़िया घर-सी दुबकी बैठी थी। पापा बताते थे कि यह इमारत कुछ नहीं तो कोई दो सौ साल पुरानी होगी। जब मैदानों के गर्म हिंदुस्तानी ताप ने बरतानिया से आए साहब लोगों की नाजुक चमड़ी को ज्यादा झुलसाया तो वे भागे पहाड़ों की ओर—जुओं की तरह तलहटियों, पगडंडियों, देवदार कुंजों के पास इन निखालिस एडवर्डियन बंगलों को जनते हुए। तब से लेकर इन बंगलों का कुछ भी नहीं बदला है, न नक्शे, न नाम। रिट्रीट, सेण्ट क्वेनटिन, स्नोवी हील्स, प्रायरी! नाम आने से लगता है कि ज्यादातर अब खस्ता हाल हैं, उखड़ी नालियां-छतें, टूटे शीशे, भोंड़ेपन से पोती सस्ती वार्निश से चमकती रेलिंगें और यहां-वहां

झांकते जंगली पौधों के काइयां देसी विस्तार। पूरे शहर को देखो तो लगता है जैसे यहां समय स्लीपिंग ब्यूटी के किले की तरह अचानक सो गया हो। फिर शहर का एक नया भाग है। फुटनोट सरीखा, देसी सैलानियों की खातिर बाद में चस्पां किया गया—नियान में चमकते 'कार्नफ्लैक्स' या अंगरेजी शराब के इश्तहार, ज्यादा ही भड़कीले रंगों से पुती बेंचें और पार्क, कतिपय कुरुचिपूर्ण रंगों के, मिलों में बने ऊनी कपड़े बेचते हुए तिब्बती फेरी वाले।

"अब कुछ भी खास यहां रह नहीं गया वैसे।" हंफनी दबाती मां कह रही थीं। उसने सोचा कि वापसी में ज़िद करके उनसे डांडी पर जाने को कहेगी। "हां," पापा आदतन देख कहीं, बोल कहीं रहे थे।

'कैसे-कैसे हूश सैलानी चले आते हैं। कपड़ों का सलीका नहीं, धोती पहनकर घुड़सवारी करेंगे, सड़क चलते गाजर, मूली चबाएंगे! बात-बात में हुज्जत और भाव-ताव! तेरा पुराना घोड़े वाला कह रहा था कि एक दिन चवन्नी-भर बचाने को उसे घण्टा-भर बारिश में खड़ा रखकर भाव-ताव किया इन लाला लोगों ने, टिप तो दूर रही। कहां अंग्रेज़ों के ज़माने में बेचारों को मुंहमांगा मेहनताना मिलता था, ऊपर से इनाम अलग। सच में, काम की कदर तो वही लोग जानते थे।"

मां-पापा अपने प्रिय विषय पर चालू हो गए थे। विगत की भव्यता और वर्तमान का ओछापन। उसने अपने-आपको भिंचता हुआ पाया। क्या इन लोगों को अपने दोहरे मानदण्डों का दोगलापन सच में नहीं खलता होगा? बिल्लो के विदेश से आने पर उसके सामने हर साल भारत के स्वर्णिम भविष्य और रुपहली संस्कृति के रूमानी खाके खींचे—दुहराए जाते हैं और पश्चिमी मूल्यों के छिछलेपन की छीछालेदर की जाती है, पर परिप्रेक्ष्य बदलते ही दोनों एकजुट हो फिर उसी सामंती उपनिवेश-वादी अंग्रेजियत की दुहाई देने और हिन्दुस्तानियों के भोंड़े जीवन की आलोचना में लीन हो जाते हैं। शायद उच्चमध्यवर्गीय सब हिन्दुस्तानियों के दो मुखौटे होते हैं। एक विदेशियों के लिए, एक स्वदेशियों के लिए।

पर इस दोगलेपन के बीच एक पीढ़ी की पीढ़ी जो बौनी और अजनबी बना दी गई है उसके बारे में कोई क्यों नहीं सोचता ? क्या उसका और विन्नी का दोष है कि वे सुथरी हिन्दी नहीं बोल पातीं या घरेलू रिश्तों के प्रति वह देशी ललक और भावुकता नहीं दिखा पातीं जो मा-पापा को अपेक्षित है ? अगर उन्हें इतनी ही परम्परावादी बनाना था तो पश्चिमी सभ्यता के उस छोटे द्वीप सरीखे अलग-थलग कान्वेण्ट में बन्द करके किसलिए पाला-पढ़ाया गया ? और अगर वह संस्कृति तब इतनी ही स्थापनीय लगती थी तो अब उन्हें कुछ दूसरी तरह की मान्यताओं की दुहाई देकर क्यों शर्मिन्दा किया जाता है ?

"एक यही क्लब रह गया है जरा ढंग का, जहां एकाध घण्टे को जाया जा सके।" मा कह रही थीं। क्लब आ गया था—वर्षों पुरानी यह बिल्डिंग अभी भी आश्चर्यजनक दमखम के साथ गर्दन उठाए खड़ी थी, रंग-रोगन से पुख्ता। यह इलाके का सबसे प्रमुख और वर्गदर्भी क्लब था। एक जमाने में यहां नेटिव लोगों और कुत्तों का प्रवेश निषिद्ध था, कुछ चुनिन्दा लोगों को छोड़कर। मां बड़े गर्व से बताती थीं कि वे उस जमाने में भी बेफिक्री से वहां जाते-आते थे। "पर तब बात ही और थी।" कुछ रुककर उदासी से वे जोड़ती हैं। पहले मां की पुलक उसे भली लगती थी पर सोचो तो यह सत्य भी तो उसी शर्मनाक व्यवस्था का अंग था, नहीं ?

क्लब के भीतर सतहों पर छितराया वर्गभेद नहीं दीखता था, पर आयुभेद की श्रेणियों का वर्गीकरण बड़ी आसानी से होता जा रहा था। एक लम्बूतरे गलियारे में मां की हमउम्र महिलाओं का गोल बैठा था। सहजोब और पहरावे के लिहाज से इसका ठप्पा और ही था—महंगा पर तनिक भी भड़कीला नहीं, यानी जिसे कहते हैं 'पुराना पैसा'। कहीं एकाध पीले-से मोतियों के हार या पुरानी चाल के जवाहरात की उड़ती-सी झलक कौंध जाती थी, पर वे जेवरात पहनने वालियों के व्यक्तित्व का एक आवश्यक पुश्तैनी अंग-भर थे। ठीक इसके विपरीत दूसरे छोर पर

नये रईसों की वातून बीवियों का टेबल था। वे जोरों से हंसती-बोलती अपने बच्चों को फूहड़पने से भजियों में सांस लगाकर ठुंगा रही थीं। उनके वजूद पर हर चीज़ ज़रूरत से ज़्यादह थी—मांस, ज़ेवर, कपड़े, हीरे, सेण्ट, सभी। मां हिकारत से फुसफुसाई कि यही थे वे सीज़नल सदस्य जिनके पास बस नया पैसा ही है दिखाने को, ऑब्सीन (अश्लील)! पापा ने ज़रा अर्थपूर्ण ढंग से खंखारा "माथुर्स।" मां के चेहरे की सामान्य लज्जालु मुग्धता तुरन्त लौट आई। लम्बे-चौड़े मेजर जनरल माथुर ने दोनों को बांहों में भर लिया, "इसे कहते हैं एक साथ दो-दो ईद के चांद। हा-हहा-हहा।" वे ज़ोरों से ठहाका लगाकर हंसे। यूं भी वे अपने मज़ाकों पर हमेशा से सबसे ज़ोरों से और सबसे देर तक हंसा करते थे। पापा और वे स्कूल से लेकर कालेज तक सहपाठी रह चुके थे।

"कहिए चन्द्रा जी, आज हम लोगों को कैसे कृतार्थ किया? समझा, बिटिया खींच लाई होगी। क्यों रज्जो? भई कब आई तुम? और जमाई बाबू कैसे हैं? वेरी सीरियस यंग मैन।" उनकी गरदन स्प्रिंग लगे मिट्टी के बूढ़े की तरह कुछ देर उदय की मूक प्रशंसा में हिलती रही। तभी पीछे से गठियाग्रस्त टांगों पर हिलती-डुलती एक पृथुलकाय महिला हाथ में होल्डर में सिगरेट लिए नमूदार हुई। यह माथुर आण्टी थीं। "हलो चन्द्रा!" उन्होंने मां का गाल चूमा। उनके पत्तीदार बाल, मात्र पेंसिल से अंकित भवें और चटक लिपस्टिक से पान के पत्ते के आकार में रंगे होंठ, सब सन् चालीस के आस-पास की विलायती फैशन पत्रिकाओं से निकला लगता था। देखकर डिकेन्स की अभिशप्त मिस हैविशम की याद आती थी जिसने जबरन अपने घर के भीतर समय को रोके रखने की चेष्टा की थी, "हेलो मा: डी।" उनका उच्चारण भी निखालिस विलायती था। भारी आवाज़ यानी जिसे पीने वाले कहते हैं व्हिस्की वायस। अपने ज़माने में वे मशहूर पलर्ट और वर्गदंभी मशहूर थी। बात करते-करते वे सब अब तक एक खाली मेज़ की ओर बढ़ चले थे—कुर्सी में अनिच्छा से घंसते हुए उसने सोचा कि अगर कोई उद्धारक नहीं आया तो सारी शाम इन्हीं

लोगों के दरम्यान कटेग्री सन् अड़तीस के क्रिसमस वाल या सन् छत्तीस के मालाना लेडीज बाजार के किस्से सुनते हुए। उसने मप्रयास जम्हाई दबाई। "किमी-सनी कहां हैं आण्टी ?"

किमी यानी उनकी लड़की कामना जो उसके साथ पढ़ती थी और सनी उनका बेहद बिगड़ैल बेटा जो एक घोड़े वाले को चाबुक से पीटने के अपराध में स्कूल से तकरीबन निकाल ही दिया गया था, वह तो कई प्रतिष्ठित लोगों ने बीच-बचाव कर दिया था।

"किमी तो शादी करके कैनेडा में बस गई है। दो बहुत प्यारे जुड़वा बच्चे हैं उसके।" उन्होंने हाथों से बच्चों का आकार बनाया। "सनी लन्दन में है। वहीं एक वेल्श लड़की से शादी कर ली है। पिछले साल बेटा हुआ था तो हम लोग गये थे। लवली चाइल्ड। तुम कब आई ?" उन्होंने आंखें सिकोड़कर धुएं-भरा कश लिया। इसी अदा पर तीस साल पहले शायद लोग लट्टू हो रहे होंगे पर अब उनके झुर्रीदार चेहरे और अधपके बालों के साथ यह सब देखकर अजीब-सा लगता था।

"अभी दो-एक दिन हुए।"

"अभी तो रहोगी न ?"

"हूं।" उसने उत्तर अधूरा-सा ही छोड़ दिया।

"क्यों भाई, तुम बच्चे लोगों को यह नहीं महसूस होता कि हम बूढ़े कितनी आस लगाए रहते हैं तुम्हारे आने की ? ये यंग लोग आएंगे भी तो हवा के घोड़े पर सवार।" माथुर साहब ने हवा में चुटकी बजाई। "क्यों चन्द्रा ?"

मां हंस दी "इसका तो बस यही है, आज आई तो कल से उदय के तार और टेलीफोन, कब लौट रही हो ? ख़ैर अब चीज तो उसीकी है।" गुस्सा अग्नि की तरह गला, जला रहा था, चीज! वह चीज-भर है, बस !

"क्या लोगी ?" पापा पूछ रहे थे। तभी लोगों के बीच होती एक गुदाज लहीम-शहीम आकार वाली चली आई :

"हाउय ! !" रमला। वह उठ खड़ी हुई। रमला पुरमजाक नक्ली

बेहोशी में लद् से उसपर ढुलक पड़ी। "एट लास्ट।"

"हलो आण्टी।" वह हंसती हुई मां की ओर मुड़ी। "ले आई इस कम्बख्त को न? चल-चल। अभी लौटा जाती हूं इसे आण्टी।" हाथ से उसे घसीटती रमला साथ के दूसरे कमरे की ओर होती चल दी। बाहर गलियारे में किशोर-किशोरियों का एक बदहवास हुजूम था। कम्यून की-सी पोशाकें। लगभग सभीने बदरंग डेनिम के जीन्स और रंगीन कमीजें पहन रखी थीं। एकाध दादा लोगों ने श्मश्रुजाल उगाकर चेहरे के कच्चेपन को ख़ूंखार मर्दानगी के अहसास से ढांक डाला था। उसे उनकी तीखी आक्रामक उन्मुक्तता भली लगी। दो काफी सुन्दर लड़कियां सिर पर सेलर कैप लगाए रेलिंग पर बैठी थीं। उनके चरणों के पास दसेक किशोर प्रशंसक जांबाज़ कोशिशों से उनका मनोरंजन कर रहे थे। वे दोनों रुक-कर खिड़की के पार उनकी अठखेलियां देखने लगीं। रमला की रनिंग कमेंट्री चालू थी। "हाये दीज़ टीन एजर्स। हम-तुम भी यंग थे, पर ये लोग तो बाबा रे। कोई डर-परवाह नहीं, इन दो बहनों के देख रही हो, किस-का हाथ पकड़कर कब चल दें इनकी मां को भी नहीं मालूम होगा। वैसे उसे फिकर होगी, ऐसा भी नहीं।" रमला कुटिल हंसी हंसने लगी। उसकी ईर्ष्या से रजनी के भीतर कुछ खुरच-सा गया। जब हमें दूसरों के युवक होने से झुंझलाहट होती है तो शायद हम ढलने लगे होते हैं, नहीं? रमला पूरी तौर से न सही काफी हद तक पीछे कमरे में बैठी अधेड़ औरतों के गोल के निकट आती जा रही थी। बदन ज़रूरत से ज्यादा भरा हुआ, सही मेकअप, पर ज़रूरत से ज़्यादा, बाल बांधने का सलीका···

"मां कह रही थीं तुम्हारा बच्चा बड़ा प्यारा है।" उसने सोचने को रुद्ध किया।

"रास्कल है, पूरा।" रमला खिली-खिली हंसने लगी। "बाप के साथ बैठकर ऐसी छांटता है कि बस। यह मरद लोग बेटों के साथ चट-पट अपनी टीम बना लेते हैं। तेरी अभी तक कोई खबर नहीं इधर की?" रमला ने उसके पेट की ओर इशारा किया। उसने सिर हिलाया।

"क्यों ?"

वह हंस पड़ी। "बस, ऐसे ही कोई छोटा-मोटा उत्तरदायित्व थोड़े ही है कि…।"

"छोड़ यार। तू तो हमेशा जरूरत से ज्यादा सोचती है। हमारी तो विल्लो से पटती थी। उसने तो अपना काम खत्म कर डाला। छुट्टी हुई और सच में तो…" वह भेद-भरे ढंग से झुकी। "जब चार-पांच साल बाद वो बात नहीं रह जाती तो एक ब्रिज चाहिए होता है जोड़ने को, नहीं ? तेजी मेरी तो न सुनें पर मजाल है कि टीटो कहे तो टाल दें, यही तो हम मदों से सुपीरियर हैं माई डियर।" रमला आंख मारकर हंसी। "सच कहती हूं फिलासफर, तू भी कर डाल तैयारी। कौन तुझे खुद पालना है। गेट अ गुड आया लाइक माइन, बस।" वह चुपचाप शीशे के बाहर देखती रही। विल्लो और उसने भी इसी जगह अपनी गर्मी की छुट्टियों की कितनी शामें बिताई थीं। हंसते-बोलते, एक अभेद्य सुरक्षा के अहसास से घिरे-घिरे अब लगता है कैसे किया होगा ? तब तो घर से क्लब का रास्ता एक रास्ता-भर था जिसके ओर-छोर पर दो सुरक्षा-स्थल थे। बीच-बाहर, जो भी हो गुजरता हो उसके बारे में माथापच्ची करने तक कतई जरूरत नहीं थी।

"एई।" अभद्र इशारे से बाहर के एक झुण्ड ने बेरा को बुलाया, फिर उससे कुछ कह रहे थे। डांट रहे होंगे शायद। बेचरा सर झुकाए चुप खड़ा था। पीढ़ियों की तहजीब अपने पट्टेदार बदन में दबोचे। फिर एक लड़की ने, जिसकी बनियान के सीने पर अमरीकी झण्डे के ऊपर 'पीस' लिखा हुआ था, कुछ कहा और वे सब उठकर बाहर चल दिए।

"चल कुछ पीने को ले ले बार में।" रमला ने उसकी बांह खींची।

"अभी तो चाय पी है।"

"मालूम है। अब कोक भी पी ले।" रमला उसे लेकर आगे के कमरे में चल दी, जहां साफ्ट बार था। वहां उसे कोई परिचित फिर दीख गया। "एक मिनट, अभी आई।" वह एक कोने में खड़ी हो गई। बगल में

कार्डरूम था जहां हरी मेज़ों पर तन्मयता से झुके सिरों का हुजूम था। पापा कहते थे कि लोग एक रात में दस-बारह हजार भी हार सकते हैं। परिचित कोने में आण्टी बलजीत बैठी थीं, ब्रिज की पुरानी खिलाड़िन हैं, इकहरी मर्दानी देह, खिचड़ी बाल, हड्डिहा चेहरा। उनके पति खुल्लम-खुल्ला एक पठान रखैल रखते थे। दोनों में सालों से बोलचाल नहीं थी। बिल्लो ने एक बार कहा था कि ऐसे चेहरे-मोहरे की मेरी बीबी होती तो मैं भी रखैल रख लेती। मां बहुत गुस्सा हुई थीं। 'तुम लड़कियों को बोलने का अन्दाज़ नहीं है। एकदम। लिख-पढ़कर हम कोई अंग्रेज़ों की तरह थोड़े ही हो जाते हैं कि जो मुंह में आया सो बोल दिया। है कोई जो पति की परित्यक्ता औरत के दामन के दाग गिन सकेगा...'वगैरह। मां की भावुक आदर्शवादी व्यख्यानमाला शुरू होते ही वह और बिल्लो उचट जाते थे। उसने इधर-उधर ताका, रमला कहीं बार के पास की भीड़ में गुम गई थी। वह चुपचाप बाहर बाल्कनी में निकल आई। रमला मिलेगी तो कह देगी कि टायलेट गई थी। रेलिंग से झुककर वह सामने के धुंधलाते पहाड़ देखने लगी। घर लौटना इस मायने में कितना यंत्रणादायक होता है कि आप अपने बचपन के लम्बे-चौड़े सपनों को,ठिठके उन बौने आकारों में सिमटा हुआ पाते जाते हैं, हास्यास्पद और कारुणिक। हर चीज़ उम्र के अपरिहार्य दबाव तले ढलकती चली जाती है, ऐन आपकी आंखों के सामने और आप कुछ नहीं कर सकते। शायद मां-बाप के रूप में जिससे हम जूझते हैं वह एक पूरी व्यवस्था की अनन्त क्रूरता का अहसास है जिसने हमारे मां-बाप को भी उतना ही कुण्ठित और घायल किया है जितना कि हमें !

दाहिनी ओर के पहाड़ों के ऊपर से हल्के पारदर्शी रोगन की पर्त-सा कोहरा उतरने लगा था। कोहरे के बीच झपकती बत्तियां,पहाड़ों का अन-घड़ हरा-काही विस्तार, कुहासे का धुंधला-गाढ़ा उभराव—सब मिलकर एक जीवनहीन संसार गढ़ते जाते हैं जिसमें हमारा होना कतई गैरज़रूरी है, नहीं ? शायद ऐसा सूरज के चारों ओर स्थिरता से घूमते उन जीवन-

हीन उपग्रहों में निरंतर होता होगा जहां बाकायदा दिन-रात होते—ढलते जाते है, हमारे ओछे प्रयोजनों के कतई परे, अनन्त।

"ले। तू यहां खड़ी है और मैंने सारा क्लब छान मारा। चल भीतर चल, अभी थोड़ी देर में ब्यूटी क्वीन का चुनाव होगा।"

"क्या?" उसने बत्तियों में झकझकाते हाल के उजास से आंखें सिकोड़ीं।

"याद नहीं क्या? हर साल तो होता है। एक बार बिल्लो भी तो गई थी हिस्सा लेने।"

"नहीं, पापा ने मना कर दिया था। स्कूल वाले भी मना करते थे।"

"तुम्हारे पापा पुराने ख्यालों के खासे हिमायती हैं न? ऊ ही इज क्यूट। मैं तो बिल्लो से उनके बारे में सुन-सुनकर बहुत डरती थी पहले। बिल्लो कहती रहती थी न कि बहुत गंभीर हैं, बहुत अनुशासन के पाबन्द है, वगैरा-वगैरा, पर ही टर्न्ड आउट टु बी रियल चार्मर। सच,तुम्हारी मां बहुत भाग्यवान हैं। अभी भी अंकल कितने कमउम्र लगते है! नहीं?"

"ज़रा देरी हो गई तुझे।" रजनी मुस्कराई।

"क्या? ओ-हो-हो-हो।" मज़ाक का मतलब समझकर रमला ज़ोरों से हंस पड़ी।

"यह हुई ना बात। तब से मरे चूहे का-सा मुंह बनाए बैठी थी। वैसे असल में शादी के बाद मियां के बिना कहीं जाना अजीब-सा लगता है न? जैसे घर से बिना चप्पल पहने निकल आए हो।" अपनी उपमा पर वह फिर ठठाकर हंसी। "आने वाला है उदय यहां?"

'न ऽ ही,' वह चुप हो गई, आगे क्या कहे कुछ समझ नहीं आया। अपने सारे सतहीपने के बावजूद रमला की बात गलत नहीं थी। उस सारे तनाव और आक्रोश के बाद भी उसके भीतर की एक रिक्ति उद की उपस्थिति से ही भर पाती थी। वे शायद एक-दूसरे के आश्वस्तकार तत्त्व थे, परस्पर टकरा-टकराकर अपने अस्तित्व, अपनी संवेदनाओं को

धार पैनाते हुए। मां की आंखों में अक्सर उसने उदय से उसके रिश्ते को लेकर दबे प्रश्न सुगबुगाते देखे हैं। उसे मालूम है कि वे इसी भय से उन्हें स्पष्ट नहीं पूछ लेतीं कि उसके उत्तर कहीं वे ही न हों जिनसे वह खौफ खाती हैं। पर क्या वह मां को यह कभी समझा सकती है कि उदय और उसके संबंधों यह जुझारूपन उनकी एकदम निजी ज़रूरत हैं? जिसकी प्रखर अनुभूति के आगे दोनों में से किसी एक का दब जाना या एक रूमानी फैलाव में दुबक जाना उस पूरी कामरेडशिप को दगा देना होता। मां से वह कहेगी भी तो वे तुरत पुरुष की मजबूत छत्रछाया के बिना नारी की असहायता या तट से लगी नाव सरीखे अनुप्रास समेत भावुक फिकरा चस्पांकर उसे पहले ही छेक देंगी। मां-पापा के सुनिश्चित नियमबद्ध संसार में औरत और मर्द के बराबरी के रिश्ते का कोई खाका ही नहीं था जिसको दिखाकर वह कह…

"कब तक हो ?" रमला पूछ रही थी।

"बस कुछ ही दिन और ।" उसने अचानक अपने निर्णय से अपने-आपको खुश होता पाया।

"अरे इतनी गर्मी में क्या जा रही है ? ज़रा बारिश हो लेने दे। हम तो हर साल जुलाई में पटियाले लौटते हैं,, तब भी उबलते रहते हैं।"

"कैसी जगह है ?"

"अच्छी है। तेजी ने तो नई फैक्टरी लगाई है सो काम में मशगूल रहते हैं, हमारा एक लेडीज़ क्लब है उसीकी कार्ड पार्टी, किटी पार्टी होती रहती है।"रमला के स्वर में बालसुलभ निश्छलता थी। सब कुछ स्वीकार कर संतुष्ट रहने का अहसास। उसके मन में ललक-सी उठी। काश, उसका मन-संसार इतना सीधा सहज हो पाता !

"फिर मिला-जुला परिवार है, हालांकि मेरी सास जी ने बंगले सबको अलग बनवा दिए हैं पर हाता एक ही है, मर्दों काबिजनेस भी एक ही है, सो खासी रौनक रहती है।

"दिन में क्या करती है ?"

"सो लिए, कभी कुछ हल्का-फुल्का पढ लिया, जाड़ों में बुनाई-कढ़ाई। फिर अभी तो टीटो छोटा है। कभी आया से मांगकर उसीसे खेल लिया। तू ?"

वह कुछ अटक-सी गई। क्या कहे वह? करती तो वह भी कुछ नहीं, बस घुघवाती बैठी रहती है। "सोचती हूं, वापस जाकर एम० ए० जायन कर लूं। पढ़ाई तो पूरी हो ले।" वह खुद चौंक गई। यह पहली दफा हुआ था कि उसने इतने खुलेपन से अपनी इच्छा का शाब्दिक इज़हार किया हो।

"छड यार। रही तू भी मोंदू ही। अब बच्चे-वच्चे का टाइम है, एम० ए० करके क्या करेगी? मेरी देवरानी को ही ले, डाक्टर है, सुबह से शाम तक क्लिनिक में रहती है और हमसे कहती है कि टाइम बरबाद कर रही हो। पर मरी को छुट्टी के दिन समझ नहीं आता कि क्या करे? नौकरी तो उसके लिए घर से भागने का बहाना-भर है, बस। बच्चे आया और दादी संभालती हैं, मरद एक मदरासन डासर के फेर में पड़ा है।' रमला ज़ोर-ज़ोर से हंसने लगी। "फिर एम० ए० करके तू कहेगी डाक्टरेट करती है। फिर बाहर हायर स्टडीज़ को जाना, मियां बिचारा तो गया"

"वाह, अगर वह दिन-भर घर की फिकर किए बिना नौकरी कर सकता है तो मैं क्यों नहीं?"

"ले। उसे इस सबसे क्या माथापच्ची करना। आखिर इसीलिए तो इंसान शादी करना है कि ज़रा घर आबाद रहे, ज़रा ढंग से काम होता रहे। और क्या?"

रजनी हंस पड़ी। 'वो सब तो उसका पुराना नौकर मुझसे भी अच्छी तरह चला लेता है, मेरी उसमें क्या ऐसी ज़रूरत?"

रमला ठट्ठा मारकर हंसी। "सो तो तेजी का नौकर भी कर ले पर हुकूमत का फरेब तो बनाए रखना चाहिए अपने को। मैं तो बीच-बीच में यूं ही जाकर खूब लताड़ आती हूं सब नौकरों को, वर्ना सच ये लोग होते बड़े..." वह बात अधूरी ही छोड़कर पीछे मुड़ी "आण्टी बुला रही हैं

तुझे। अभी जा रही हो?"

"हां, शायद।" रजनी ने आंखें सिकोड़कर बाहर देखा। "पानी भी फिर से आने को हो रहा है। मां को वैसे भी डाक्टर ने ज़्यादा देर जागने को मना किया है। चलूं। अब आऊंगी फिर कभी, तुम तो पास ही रहते हो न?"

"बाय!" रमला ने हाथ हिलाया। "ज़रूर आना, यह नहीं कि कह-भर दिया। अच्छा?"

वह सीधे अस्वीकार और उससे सम्बद्ध लम्बे कारणों की फेहरिस्त को तूल देकर नहीं उठाना चाहती थी, उसने सहमति में सिर हिला दिया—ज़रूर।

सब लोग उठकर हाल की ओर जा रहे थे, शायद कार्यक्रम शुरू होने वाला था। उसके उठते ही उसकी कुर्सी भर गई थी।

"तुझे बीच में तो नहीं उठा दिया? फिर से पानी आने का हिसाब लगता है। चाहो तो तुम और पापा रुक जाओ। डांडीवाले पहचान के हैं, चली जाऊंगी।"

"नहीं, मैं भी चलती हूं।

"जा रही हो?" मिसेज़ माथुर पास से गुज़र रही थीं, "आना कभी बेटे, ममी को लेकर सनी और किसी के बच्चों की रंगीन तस्वीरें दिखाएंगे।"

"ज़रूर।"

डांडी वाले तेज़ी से कदम दौड़ाते हुए आगे निकल गए थे। पापा और वह पगडंडी चढ़ने लगे। दोनों के बीच सहज चुप्पी थी। कुछ देर चढ़ने के बाद वह रुककर किनारे के खम्भे के सहारे सांस सीधी करने लगी।

"आदत छूट गई न?" पापा का स्वर आया।

"हां, हर बार शुरू में कुछ वक्त लगता है।" दोनों फिर चढ़ने लगे। पैरों तले के पत्थर कभी ढलवान पर नीचे तक सरकते चले जाते, कभी कोई दुर्बल टहनी चटखती—चटाख। बस, बाकी सिर्फ चुप्पी। इस मोड़ से नीचे पुराने बाज़ार की इमारतों के पीछे अलाव घेरकर बैठे कुलियों

की जमात दीख रही थी। लपटों पर झुका रक्ताभ अंधकार। कोई गा रहा था शायद, अपने छोटे गांव में पीछे छूटे यौवन के गीत। एक शब्दहीन करुण ध्वनि हवा के फैलाव की तरह कुछ देर कनपटियों पर सुरसुराती रही, फिर पीछे छूट गई। वे चढ़ते रहे।

"कुछ भी बदल जाए, ये सब वैसे ही रहेंगे।" ढलवान तले की देसी शराब की दुकान से लड़खड़ाता मानव-आकार निकला और लैम्पपोस्टों के परे अंधेरे में विला गया। बचपन में इस सड़क पर उन्हें अकेले आने-जाने की कतई मनाही थी।

"पब्लिक न्यूसेंस!" पापा बुदबुदाए।

"क्या?" उसने समझने से पहले ही पूछ लिया।

"अरे यही शराब की भट्ठी। एक बार गए साल हम कुछ लोगों ने पेटिशन भेजकर बन्द करवाई। अब फिर चालू हो गई। भट्ठी का मालिक लोकनेताओं को कुछ दे-दिला आया, बस। फाइल ही दबा ली।"

"किसी आफिसर से नहीं कहा?"

"अरे बेटा, वो लोग तो और भी गए-बीते हैं। एक नम्बर के डर-पोक और आलसी। दंगे का अंदेशा हो तो दौरे पर निकल पड़ेंगे। फोन करो तो चपरासी कहेगा, पूजा करने बैठे हैं। हिपोक्रेट्स!" पापा के स्वर में क्रोध नहीं उदासीन तिरस्कार था। "कमले ऐसे हैं कि बस! आज यहां से मुफ्त सामान, आज वहां से। अरे डाली-वाली का पहले भी हिसाब था पर अंग्रेज में कलेजा था। हिम्मत थी कि उनके जमाने में ऐन शहर के बीच ताड़ीखाना खोल दिया जाता? पीते तो ये छोटे लोग तब भी थे पर शहर के बाहर। यह थोड़ी कि····।"

कुछ देर दोनों चुपचाप चलते रहे।

"मां कह रही थीं कि आप कोई फर्नो का बागीचा लेने की सोच रहे थे।" उसने बात पलटनी चाही।

"बागीचा तो क्या, ऊपर के रिट्रीव कॉटेज वाले अपनी जमीन का कुछ हिस्सा और एक छोटा गेस्ट हाउस बेचना चाह रहे थे, हमने सोचा

था,ले लेंगे। वहां उसे थोड़ा बढ़ाकर एक बंगला और बन जाता—तुम्हारे-बिल्लो के लिए एक-एक हो जाता। पर अब बिल्लो-नरेश शायद एमीग्रेशन के लिए सोच रहे हैं। हम लोग जब तक हैं तब तक ही शायद दो-चार साल में एक बार आते रहें। बाद को पड़ा-पड़ा बरबाद होगा। उदय को भी पहाड़ शायद खास पसंद नहीं।"

स्वर में अभियोग था या स्वीकारोक्ति-भर, उसे टटोलने का साहस नहीं हुआ। क्या तुक वह सब खंगाल डालने से, नहीं ? घर की बत्तियां सामने आ गई थीं। उसने बाजू पर खड़े उस कुबड़े बांज के पेड़ को धीमे से छुआ। खाल नर्म और गीली थी। पालतू कुत्ते की थूथनी की तरह बूढ़ा पेड़ जैसे उसे टटोल रहा था। उसने हाथ हटा लिया।

"अब तुम्हारी मां दरवाजे पर ही खड़ी मिलेगी।" पापा मुस्करा रहे थे।"दस मिनट की भी देरी हो जाए तो वह दरवाजे पर चहलकदमी करने लगती है जैसे कि अभी भी सड़कों पर भालू और चीते घूमते रहते हों।"

दरवाज़ा सचमुच मां ने ही खोला।

"लो मेम साहब।" पापा ने अपना छाता उन्हें थमा दिया और अपने कमरे की ओर चले गए।

"उदय का फोन आया था।" मां ने छाता स्टैण्ड पर रखते हुए कहा।

बहुत सारा कुछ घुमड़कर भीतर उठा, पर उसने अपनी आवाज़ भरसक संयत रखी।

"तुमसे बात हुई क्या ?"

"नहीं, मेरे आने से पहले माली ने फोन उठाया था शायद। कह दिया था क्लब गए हैं, देरी से आएंगे।" उसने हताशा से अपने-आपको भीगी बरसाती-सा लस्त होता महसूस किया।

७

सुबह वह उठी तो कोहरा छाया था। अभी तो सिर्फ एक झीनी फुही-भर

पड रही थी, पर शायद रात काफी बरसात हुई होगी। सारा कुछ गीला था। उसकी खिड़की के पास के सेव के पेड से पानी लगातार चू रहा था। टप-टप। सारा वातावरण पानी की संगीतमय ध्वनियों से भर गया था। पत्तों से छनता पानी, टिन की छत पर तड़ातड़ बरसता पानी, छत की कोरों से नालियों में भरकर दौड़ता पानी और इस सबके परे बीच में कभी एक हल्की-सी ध्वनि रुक-रुककर उभरती—टिप्प। उसके कमरे की छत एक जगह से चू रही थी और उस जगह पर एक पुराना तसला रख दिया गया था। टिन्न। उसने हाथ पलटकर घड़ी देखी, साढ़े सात। वह लेटी रही। उदय ने किसलिए फोन किया होगा? कोई जरूरी बात होती तो शायद दुबारा भी कर लेता, नहीं? टिप्प! उसने सोचना छोड़ने की कोशिश की। पहाड़ की बरसात में हरेक घर द्वीप बन जाता है—निर्जन, शांत, पानी की छलछलाहट और कुहासे की पर्तों में खोया, डूबता-उतराता। पहले उसे यह बहुत अच्छा लगता था। कमरे के, घर के, हाते के चारों ओर बुनी जाती यह तरल संरचना एक अजीब-सी ऊष्मा देती जाती थी, अपनी भरपूर जिन्दगी में और भी लिपटते जाने का नर्म अहसास, पर अब कोहरा और जल-ध्वनियां जब बाहर की दुनिया से काटकर उसे उसी जिन्दगी के ऐन बीच धंसा जाती है तो वह उसे कतई झेल नहीं पाती। क्या यही सब नहीं था जिससे कतराने की चेष्टा में वह छटपटाती, भागती फिर रही थी।

नाश्ते की मेज पर उदय की चिट्ठी थी। छोटा-सा खत था। उसका तार मिला। आशा है रास्ते में सब ठीक रहा होगा। वह अपना खयाल रखे, ठण्ड से बचाव वगैरह। उसको मालूम था कि अपने हल्के-फुल्के वार्तालाप के परे मां-बाप अपनी उत्सुकता चुपचाप भींचे हुए प्रतीक्षा कर रहे हैं कि वह कुछ बताए। एक बार उसके मन में ख्याल आया कि पढ़कर चुपचाप तहा ले, आखिर चिट्ठी कोई सामूहिक ग्रंथ तो है नहीं कि बांचकर सुनाना जरूरी हो।

"तार मिल गया था।" उसने खयाल परे किया।

"बाकी सब ठीक है ?" मां ने उसे प्याला थमा दिया।

"आं ? हां, ठीक ही है।"

नाश्ते के बाद पापा टहलने निकल गए थे। वह अपने कमरे की खिड़की से उनकी लम्बी-छरहरी आकृति मोड़ के परे ओझल होती देखती रही। मां पता नहीं कब आकर पास में खड़ी हो गई थी।

"तू···तुम लोग कहीं लड़-वड़ कर तो नहीं···?" मां उसकी ओर नहीं देख रही थी।

"नहीं तो।" उसे ताज्जुब हुआ। पर शायद उन लोगों ने यही सोचा हो। शायद काफी भय और शक के साथ अटकलें भी लगाई हों उन दोनों को लेकर। एक बार उसने सोचा कि कह दे वह खुद तो पहाड़ जाने के बारे में इतनी उत्सुक नहीं थी पर उदय ने ही कहा था कि···पर फिर मां शायद यह सोचेगी कि उदय ने शायद खीझकर ही कह दिया होगा।

"सोच रही हूं, आज स्कूल हो आऊं। पुरानी नन्स से भी मुलाकात हो जाएगी। फिर फुरसत हो न हो।"

"मौसम ?" मां ने प्रश्नसूचक निगाह आसमान पर डाली, जहां बादलों के फटने के कोई आसार नज़र नहीं आते थे।

"मुझे तो आदत है।" उसने कहा। मां चुप हो गई। रसोईघर से रसोइया बुला रहा था। मां चली गई। उसके कमरे की आलमारी में उसके कुछ पुराने कपड़े पड़े थे, यत्न से तहाए। शायद मां अभी भी उसी उत्साह से मौसम बदलने पर कपड़ों की सार-संभाल करती हो। कपड़ों में नैप्थलीन की हल्की गुलाबी गंध थी। बरसाती के बटन लगाते-लगाते उसने रसोई के पास रुककर जरा स्वर ऊंचा किया, "जा रही हूं।" मां ने कुछ कहा था या नहीं, उसे पता नहीं।

तेज़ बौछार अब रुक गई थी। बस एक हल्की अनवरत फुहार-सी बच रही थी जो शायद दिनों तक चलती रहे। उसके पांवों को रबड़ के बूटों को साधने में हल्की-सी कोशिश करनी पड़ी। आदत छूट गई थी। स्कूल के लिए उनके घर से पहाड़ के साथ-साथ सीधा रास्ता जाता था। इस

सड़क के सारे उतार-चढ़ाव, मोड़-किनारे उगे दरख्त, यहा तक कि सीमेण्ट के खम्भों से उन तलक बंधे तारों के निरन्तर कसाव से उनके पतलो बने धट्ठेदार गढ़े तक उसके परिचित थे। एकाध जगह सड़क पानी के फैलाव से बैठने-सी लगी थी। यह हर साल होता था। फिर हर साल मज़दूरों के नामहीन गैंग गैंती-फावड़े लिए आ जाते थे और मिट्टी से पाटकर उसे फिर पुख्ता कर जाते थे—अगली बरसात तक के लिए।

यहीं लड़कों के बोर्डिंग स्कूल के बूढ़े पादरी अक्सर टहलते हुए मिलते थे। क्या भला-सा नाम था? उसे याद ही नहीं आया। वे लोग उन्हें देखते ही हथेलियां फैला देते थे—विदेशी डाक-टिकटों की मांग में। फिर वे साथ-साथ हंसते-बोलते स्कूल तक चलते जाते। लड़कियों और लड़कों के स्कूल एकदम पास-पास ही थे। रास्ते-भर फादर उन्हें अपने देश में बिताए अपने जीवन की छोटी-छोटी खुशनुमा कहानियां बताते, कैसे उन्होंने घड़ी में समय देखना सीखा, कैसे साइकिल चलाना, कैसे वे बर्फीले समुद्र में तैरते हुए एक बार एक खोह में ज्वार आते वक्त फंस गए थे। हां, याद आया, उनका नाम था फादर फ्रास्की। कुछ महीने पहले किसीने लिखा था कि वे शायद चल बसे थे। क्या पता ज़िन्दा रहते वे दुबारा जर्मनी के अपने उस छोटे-से कस्बे में वापस गए या नहीं, जिसकी चमकीली खनकती रंगीन यादें वे कंचों की तरह जेब में भरे फिरते थे। वह स्कूल की परिचित सीढ़ियां चढ़ने लगी। यहां से हाथ हिला-हिलाकर वे लोग देर तक फादर फ्रास्की की ओझल होती आकृति को विदाई देती रहती थीं—बाय-बाय फादर फ्रास्की। गुड्बाय!

जहां सीढ़ियां खत्म होती थीं, खेल के विराट् मैदान शुरू हो जाते थे। बिल्लो स्कूल की बास्केट बाल टीम की कैप्टेन थी। नरेन भाई ने उसे पहली बार स्कूल के किसी मैच में खेलते देखा था, फिर वे हर साल हर मैच देखने आते थे।

खेल के मैदान में आज कोई नहीं था। बरसात के दिनों में मदर सीलिया उन्हें सिलाई-कढ़ाई सिखाने भीतर बिठा देती थी। पुरानी पुरो-

पियन पत्रिकाओं से कढ़ाई के खाके उकेरती, रंगीन धागों के रंग मिलाती नन्स कैंची और अंगुश्तानों की पिटारियां लिए बत्तखों की तरह उनकी कतारों के बीच तिरतीं रहतीं। जरा भी टांका टेढ़ा पड़ा नहीं, कि सारा का सारा खोल देना होता। वह बड़े रश्क से बड़ी लड़कियों के हाथों तले थमे फ्रेमों में विलायती फूलों के गुच्छे, आकृतियां और बेलें उभरती देखती रहती। वायलेट, स्वीट-पी, डेज़ी, जॉन विवल, फ्यूशिया—फूलों के नाम ही जैसे कमनीय कविताएं हों। इसी सबके सहारे तो चारदीवारी के भीतर स्कूल की जर्मन नन्स ने यथासंभव अपने देश के वातावरण को सिरजने की कोशिश की थी। स्कूल के बगीचे में वे बाहर से प्याज़ की शक्ल की जड़ें मंगवाकर लगवाती थीं—ग्लैडियोली, ट्यूलिप, लिली की अनेक रंगी कतारों की कतारें। स्कूल के किचन में अजीब-अजीब नामों वाले यूरोपीय व्यंजन बनते थे, रात देर तक उनके लाउंज से प्यानो पर यूरोपीय संगीतज्ञों की धुनें बजती रहतीं। हर क्रिसमस पर उन सबके नाम स्वजनों के रंगीन चमकीले कार्ड आते थे। बर्फ-भरे खुशहाल नजारों से टंके हुए वे रेनडियर, साण्टा क्लास, पिघलाती मखमली मोमबत्तियों और गदबदे गोरे शिशु क्राइस्ट से अंकित कार्ड महीनों स्कूल में यत्र-तत्र सजे रहते। सब कुछ इतना सौम्य और मृदुल था कि लगता ही नहीं था कि इन सबके परे···

"हलो मेरी बच्ची, रजनी ही हो न ?" मदर जूडिथ मोटे चश्मे के कांचों के परे आंखें सिकोड़े उसे ताक रही थीं। वह हंसकर आगे बढ़ी। एक जमी हुई बर्फ पिघल-सी रही थी मानो। कुनकुनी निश्छल आत्मीयता से मदर ने उसके दोनों हाथ थामकर उसका माथा चूम लिया। "एकदम वैसी ही हो मेरी बच्ची। बिल्लो कहां है, कैसी है ? इस बार नहीं आई ?"

"ठीक है।" वह मदर को पारिवारिक सूचनाएं देने लगी। मदर गौरैया की तरह गर्दन टेढ़ी किए सिर सहमति में हिलाती जाती। ऊपर कोई घण्टा बजा। मदर ने घड़ी देखी, "माफ करना बेटी, जरा स्टोर से सामान निकालना है, फिर मिलूंगी।" गर्मजोशी से हाथ दबाकर मदर जूडिथ अपनी कलफदार चुस्ती में ढकाढक आगे बढ़ गई। कोने के उस पार रुक-

कर उन्होंने तनिक आवाज ऊंची कर किसीको डांटा। एक हल्का शोर जो गुनगुना रहा था, तुरन्त थम गया। फिर उनके जूतों की खटखट लकड़ी के फर्श पर दूर होती गई। जब विल्मो और वह होस्टल में थे तो वे लोग मदर की परछाईं से भी थरथर कांपते थे। तब ज़ोरों से प्रतिरोध करना क्या, खिलाफत की कल्पना भी उन्हें आतंकित करती थी। अब यकीन भी नहीं आता कि इस छोटी-सी झुर्री-भरी वृद्धा के पैरों की आवाज़-भर उन्हें थर्रा जाती रही होगी, कभी।

"देखिए मैं आपसे साफ ही कह रही हूं कि हमारे यहां पांच सौ बच्चियों का नाम वेटिंग लिस्ट में है, आप चाहें तो एक नाम उसमें जोड़ दें पर इसी सेशन में सीट मिलना कतई नामुमकिन है।"

मदर सुपीरियर अपने भारी वक्ष पर अपने ज़िद्दी गुदाज़ हाथ बांधे खंभे-सी खड़ी थीं। सामने एक जोड़ा था; नई रईसी से गमगमाता हुआ। बीवी बाज़ार में प्राप्त हर महंगी चीज़ धारण किए हुए लगती थी। उसके चेहरे का आत्मसंतोष दर्प छिपाकर गुस्ताख़ हुआ। "पर, हम तो बड़ी आशा से आए थे।"

"सो तो है, पर मैंने तो आपसे कुछ छुपाया नहीं। अब आपकी मर्ज़ी। गुड्बाय।" मदर सुपीरियर भीतर को मुड़ गईं। जोड़ा कुछ देर तक असमंजस में खड़ा रहा, फिर चला गया। पत्नी जाते-जाते बहुत ही हिकारत से पति को देखकर कुछ बुदबुदाई। शायद उस पर अपनी भड़ास निकाल रही होगी, बेचारा!

उसने धीरे से पालिश से चमचमाते दरवाज़े पर उंगली टकोरी, "आ सकती हूं?" मदर ने तल्लीनी से सिर उठाया, फिर उसे देखा तो हंस पड़ीं।

"आओ मेरी बच्ची, मैंने सोचा फिर कोई मेहमान आ गए।"

"आप व्यस्त तो नहीं हैं?" वह कुछ झिझकी। मदर खुशी छिटकाती उठ खड़ी हुईं। "नहीं, अगले दस-पंद्रह मिनट तक नहीं, आओ।" उसके हाथ थामकर मदर ने ज़ोरों से हिलाए। "सो अब तुम शादीशुदा महिला हो मेरी बच्ची, है? बदली नहीं तुम। बिल्कुल वही है मुस्कान न यह कहीं

और ? और तुम्हारे माता-पिता कैसे हैं ?" फिर वही रस्मी पूछताछ।

वह फिर रटे-रटाए-से जवाब देने लगी।

"चलो, तुम्हें स्कूल का नया विंग दिखा दें, वर्ना फिर कोई न कोई मिलने वाला आ जाएगा। इस नई इमारत को हमने सिर्फ चन्दे से खड़ा किया है—हम लोगों ने और हमारी बच्चियों ने, भगवान उन्हें आशीष दे।"

"एडमिशन क्या अब गर्मियों में होते है।"

"तो तुमने भी उन्हें देखा ?" मदर ग्लानि से हंसीं। "मुझे रुखाई से पेश आना बुरा लगता है, पर कुछ लोगों को मनाही सुनने की आदत ही नहीं होती शायद। कह रहे थे कि हम उनकी बच्चियों को अभी ले लें। अण्डर द काउण्टर हम जितना कहें वे देने को राज़ी हैं। क्या तुम यकीन करोगी ?" अपमान और आवेश से मदर की भूरी आंखें स्याह हो गई। "ऐसे लोगों से क्या हुज्जत की जा सकती है ?" नई बिल्डिंग आ गई थी। मदर महाउत्साह से इमारत दिखाने लगीं। उनका क्रोध बिला गया था। "यहां पर एक बड़ा हाल और स्टेज होगा, यहां पर मदर जेनिफर खुशबूदार पत्तों वाली झाड़ियां लगाएंगी, यहां पर एक लाउंज···"

स्कूल की यूनीफार्म अभी वही थी। लड़कियों की आवाजें, उनकी भाषा, उतार-चढ़ाव सब बिलकुल···एक क्लास छूटी थी शायद। पटर-पटर बोलता गुलाबी गालों वाला एक गदबदा रेला कारीडोर में बिखर गया। वह और बिल्लो भी कभी ऐसे ही रहे होंगे, नहीं ?

लड़कियां कुतूहल से उसे ताक रही थीं, जैसे वे लोग नये चेहरों को घूरा करते थे, छिपे-छिपे। वे अभी बचपन के उस अंतिम दायरे से नहीं छूट पाई थीं, जिसे पार करते ही बड़ों के अनुशासन-भरे आतंक का फूला हुआ बबूला पट से बैठ जाता है। पर उस रस्मी अनुशासन की जगह तब क्या घिर आता है, शर्म ? गुस्सा ? ग्लानि ?

जाते वक्त मदर ने उसे दोनों गालों पर चूमा, स्कूल की सालाना पत्रिका की एक प्रति दी और उससे नई बिल्डिंग के फंड के लिए दस रुपये के साथ यह पक्का आश्वासन भी लिया कि भविष्य में वह अपने जीवन

की उत्तेजक, खुशगवार घटनाओं से उन्हें व स्टाफ को समय-समय पर वाकिफ करती रहेगी। उसे याद है न कि मैगजीन में पुरानी छात्राओं का एक पन्ना छपता है। है न? गुड।

पानी थम गया था। उसने छतरी बन्द कर ली और लम्बे डग भरती चलने लगी। लंगूरों का एक झुण्ड पेड़ों पर कूद रहा था। बदरियों के पेटों पर नन्हे-नन्हे बच्चे जोकों की मुस्तैदी से चिपके हुए थे। पट। पट। पट। कई बूंदें और बाजफन्न ¦ हिलती शाखों से टपक पड़ें। बारिश बन्द होने से घहराते पहाड़ी नालों का शोर और भी उभर आया था। वह सीमेण्ट की बेंच के पास रुक गई।

इस मोड़ से तलहटी में फैला पूरा शहर बारिश से लेमनजूस की गोली की तरह साफ और तुर्शीदार रंगों का सघन पुंज लगता था। यूं भी हर सैलानी शहर परीकथाओं के कुछ ज्यादा ही नजदीक होता है। जहां घुसकर उन चटक शोख आकारों, छोटी घुरनीदार सड़कों के ज्यामितीय नियंत्रण और गदबदे उजास में हम बिलाते जाते हैं। फिर जब छुट्टियों के बाद शहर की परिधि से निकलो तो एक तिलस्म-सा टूटता है मानो, और उन चमकीली यादों से लेकर कभी बड़े उत्साह से जमा किए शंख-सीपियों और चिकने पत्थरों के खजाने तक सब एक गैरजरूरत बचपना-भर बनकर रह जाते हैं।

वह बेंच पर बैठकर सामने ताकने लगी। पापा का कहना सही था। उदय को पहाड़ में बसना कतई पसन्द न आता। उसके व्यक्तित्व के सीधे, तार्किक और कर्मठ तौर-तरीकों का पहाड़ों के इस उजाड़-अनघड़ विस्तार से या उसे पाटने वाली उसके माता-पिता की जिद्दी रूमानियत के साथ कहीं कोई तालमेल नहीं बैठता था। उदय की बेलाग जिन्दगी में शायद कभी कोई मोड़ नहीं आए थे। सीधे-सपाट रास्ते-भर थे, जिनपर चलते जाने की नियति को उसने बिना दुविधा के स्वीकार कर लिया था। जब कभी उसने पूछने की कोशिश की थी कि इतने साल शहर रहकर एक

मामूली-से शहर में आकर रहना उसे कुछ अजीब-सा नहीं लगता क्या, तो उसे आश्चर्य ही हुआ था। शहर के आकार और जनसंख्या से उसे क्या लेना-देना था ? वह अपने काम से संतुष्ट था, बस। पर काम के बाहर की ज़िन्दगी भी तो उसके कुल वजूद का खासा बड़ा हिस्सा थी, उसमें क्या बहुत फर्क नहीं ?

'कैसे ?'

वह अटकती है। क्या बताये ? उसे तो खुद नहीं मालूम। बाहर जाने से पहले मां की मंगाई विदेशी पत्रिकाओं और किताबों से झांकती उस चमकीली विदेशी ज़िन्दगी का जो एक सहज सुन्दर रूप उसने सुघड़ाई से तहा कर धर रखा था, वहां पहुंचकर जाने कब धीरे-धीरे बिला गया था। खुद जाकर जब जहां रहो तो लगता है कि उस आकर्षक उत्तेजना के पीछे भी वही तनाव और कशमकश है जिससे बच भागने को हमने यह स्वप्न रचे थे। और फिर कनपटी की टीस की तरह चिलकता अपने बाहरी आदमी होने का अहसास जो हर बातचीत और मैत्री के दरम्यान औपचारिकता की झीनी, पर स्पष्ट, दीवार खड़ी करता जाता है। और सबके तो धीरे-धीरे अभ्यस्त हुआ जा सकता है, पर उस आपसी संशय की तो कोई काट ही नहीं। शायद उदय ही ठीक कहता था। उन जैसे लोगों के लिए फर्क बहुत कम था। यानी अगर ठण्डे तौर से सोचो तो।

"टैम क्या होगा मेम साब ?" गैंती लिए कुलियों का मेट उससे पूछ रहा था।

"ग्यारह।" उसने हड़बड़ाकर बरसाती संभाली और घर की ओर चल दी। मां सोच रही होंगी, पता नहीं वह कहां रह गई है।

बैठक से स्त्रियों के बोलने की आवाज़ आ रही थी। उसने बरसाती बाहर टांग दी और छाता स्टैण्ड से टिकाकर कमरे में जाने को ही थी कि मां ने पुकार लिया। "रजनी, रमला आई है।" पतलून के पांयचे कुछ गीले थे।

'अभी आती हूं, कपड़े बदल लू।"

कपड़े बदलकर वह बैठक मे घुसी तो वे सब चाय पी रहे थे। रमला के साथ उसकी मां और दो महिलाए थी। अच्छा किया, कपड़े बदल लिए। वे सब अपने प्रसाधन और आभूषणो से ऐसी लैस थी,जैसे शादी मे जा रही हों। बिल्लो होती तो वैसे ही चली जाती जैसे घर में घुसी थी। धड़धडाकर यू ही चले जाना भी एक अदा होती है, एक स्टाइल होता है। पर उसे कर सकने के लिए बिल्लो का चेहरा और वार्तालाप-कुशलता भी चाहिए।

"चाय लेगी ?" मा ने पूछा। उसने हाथ बढ़ाकर प्याली ले ली।

"स्कूल में किस-किससे मिली ?" रमला ने चाय का घूट लिया।

"सभी थे—मदर जूडिथ, मदर सुपीरियर· ·"

"मदर परेरा, मदर पिण्टो ?"

"वे शायद किचन मे होंगी, उनसे नही मिली।"

"तुम्हे नही लगता कि ये सफेद नन्स बेकार के फटीचर और थकाऊ काम काली देशी नन्स को भिड़ा देती हैं, नही ?"

वह चुप रही।

"हाय, कभी बड़ी याद आती है स्कूल की। मैं तो अब की से बेटी होते ही नाम लिखा दूगी। सच मे इतने अच्छे स्कूल अब बहुत कम रह गए हैं।"

रजनी का ध्यान पहली बार रमला के कुछ उभरे-से पेट पर गया। "कब तक ड्यू है ?"

"सितम्बर तक है पर यह भी बेटा हुआ तो ममी के पास फेंक आऊंगी।" मां-बेटी दोनों हंसने लगी। भरी-भरी-सी।

"तुम्हारी तैयारी कब है बेटे जी ?" रमला की मां ने उसकी ओर अर्थ-भरी नज़र डाली।

"यह तो एम० ए० की तैयारी करने जा रही है।" रमला हसी।

"अरी एमे-बीए तो लगा रहता है, पर इसमें देरी न करनी चाहिए।" रमला की मां ने तमीज़ से सुघर पल्लू लपेट लिया, "वखत की चीज़ की

शोभा ही और है।"

"यही तो मैं भी कहती हूं, आप लोग भी समझाइए न।" मां खुश लग रही थीं। यह उनके हितोपदेश की शुरुआत थी।

"आजकल तो यूं ही सबके दो ही दो होते हैं, फेर क्या सोचना?" यह रमला की बुआ थीं।

"अच्छा मान लीजिए एमे कर भी लिया तो भी तो देर-सवेर वही काम सर पड़ेगा कि नहीं?" कुढ़न के उस क्षण में उसे लगा कि जैसे मां के मुंह से आया बोल रही हो। तर्क वे ही थे सिर्फ लहजा और शब्द और थे।

"मान लो बच्चे ही न हों, गोद ले लें तब?" उसने उद्धतता से प्याला रख दिया। अजूबा यह कि सब हंस पड़ीं जैसे उसने कोई मजाक किया हो।

"ले, जाने किसकी बलाय-बलाय तुम अपने सिर पाल लो।" मां ने केक की प्लेट सबकी ओर बढ़ाई।

"लाख हो, रहेगा तो बच्चा पराया ही, है नहीं आण्टी?" रमला ने केक का बड़ा-सा टुकड़ा उठा लिया। "खाना नहीं चाहिए पर खा रही हूं।"

"खाओ-खाओ न। आजकल तो तुम्हें दो-दो की खुराक लेनी चाहिए।" मां ने पुचारा दिया।

"मीठा-मीठा तो लड़का मांगता है।" बुआ हंसने लगीं।

"हाय, आण्टी, ऐसा मत कहो।" रमला ने हाथ आसमान की ओर उठाए। "इस बार तो लड़की हो, लड़के तो मरे जहां दो साल के हुए बस उनकी दुनिया अलग। लड़की ही होती है हमेशा को अपनी। खूब सजा लो, गुड़िया की तरह खिला लो, गोदी में बिठा लो। लड़कों के तो कपड़े भी कैसे ड्रैब होते हैं, नहीं?"

"सो तो है।" सबने समर्थन किया।

"यह तो पालने पर है, चाहो तो तुम लड़के को भी गुड़िया की तरह खिला सकती हो, लड़की को लडके की तरह कूद-फांद···"

"अरे नहीं ।" रमला ने हाथ झटकारा, "लड़का लड़कियाना हो जाएगा तो सिसी-सिसी कहकर स्कूल में, आस-पड़ोस के बच्चे नाकोदम कर देंगे बिचारे का। और लड़की हुड़दंगी हो गई तो कौन ब्याहेगा ?"

"जिसकी जैसी कुदरती बाढ है उधर ही जाने देना चाहिए बेटा।" मां ने दूसरी प्याली चाय उड़ेली, "अब तुम्ही लोगों को लो, तुम्हारे पापा कभी लड़कियों का जोर से बोलना-कूदना पसन्द नहीं करते थे, आज तक तुम लोग धीमे बोलती-चालती हो। लड़कियों को यही शोभा देता है।" मां के स्वर में फिर वही परिचित पैगम्बरी खनक आ गई थी। उसने अपने-आपको छुई-मुई की तरह भीतर को ऐंठ कर बन्द होते महसूस किया।

"जी फोन है, छोटी बेबी जी के लिए।" माली ने दरवाज़े से भीतर झांका। वह झटके से उठ खड़ी हुई तो महिला-समाज ज़ोरों से हंस पड़ा। "ले, आ गया उसका भी बुलावा।" मां गद्‌गद थीं। वह कुढ़ गई।

"हलो।" उसने पूछा। गला कुछ फंस-सा रहा था। ऐसा हमेशा होता है, जब भी वह डरी हुई या उत्तेजित होती है तब। उसने धीरे से गला खंखारा, "हलो।"

"हलो।" लाइन पर आवाज़ काफी धीमी थी। बीच में झिल्ली की झनकार-सी एक पतली किर्रर्र निरन्तर आ रही थी। "मेरी चिट्ठी मिली ? कैसी हो ?"

"हां, मिल गई थी। सब ठीक है। तुम ?"

"हां।"

वह असमंजस से एक पैर से दूसरे पर वज़न तोलती खड़ी रही। "अच्छा अगर अभी टाइम है तो मेरे लिए एम० ए० का फार्म मंगवा सकोगे ?"

"क्या मां-पापा ने सलाह दी ?" स्वर में ठण्डा व्यंग्य था क्या ? उसने अपने-आपको सतर होता पाया।

"नहीं, मैंने खुद ही सोचा।"

"ठीक है, मंगवा लूंगा, और कुछ ?"

उसे लगा कि वह कहीं एक सिरे से निराश हो उठी है। शायद उसकी अचेतन कल्पना थी कि उदय उसका निर्णय सुनते ही उस छोर से वाहवाही के पुल बांध देगा, बाग-बाग हो उठेगा। पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। तो क्या दरअसल वह सिर्फ उदय को खुश करने के ही लिए यह सब...उसमें और मां में फर्क ही क्या है फिर ?

"और कुछ ?" उसने आवाज़ को भरसक संयत रखा।

"मौसम कैसा है, यहां तो अंधड़ आने से काफी ठण्डा हो गया है।"

"यहां बारिश हो रही है।"

"अभी तो रहोगी न ?" उदय के स्वर में जिज्ञासा थी या ललक ? उसके निर्णय करने से पहले ही ऑपरेटर की आवाज़ गूंजी। "हलो, आपके तीन मिनट हो गए।" उसने धीरे से फोन रख दिया—क्लिक।

"क्या खबर ?" उसे मां की आवाज़ में हल्के मज़ाक की ध्वनि खली।

"ठीक है।" उसने अनमने भाव से कहा।

"ममा चलें अब, टीटो ने नौकरों को परेशान कर रखा होगा।"

"अच्छा जी।" रमला की मां ने हाथ जोड़ दिए।

"आप दोनों कल दिन में हमारे घर ही खाना खाएं, अगर फुर्सत हो तो।"

"ज़रूर, हमें तो है ही।" मां ने रजनी की ओर ताका। "ज़रूर।" उसने भी सर सहमति से हिला दिया। "कोई खास बात ?"

"नहीं, परसों मेरी ननद चली जाएगी, सो सोचा। रमला तो अभी डिलीवरी तक यहीं है। अच्छा जी।"

पानी रुक गया था, गेट से लौटते हुए उसने बगीचे पर नज़र डाली। "इस बार फूल बहुत अच्छे नहीं आए।"

"पानी जल्दी बरस गया बेबी।" माली काम करते हुए रुक गया "वर्ना आपके भक्तिन इस्कूल के माली से पौद लाया था। अभी भी हफ्ते भर धूप आ जाए तो पनप जाएंगी।"

"पीता बहुत है।" मां ने अंग्रेजी मे कहा।

"अभी भी ?"

"और क्या ? कोई छूटने की आदत थोड़े ही है। कितना समझाया। पुराना प्लूरिसी का मरीज़ भी है, पर कुछ असर नही। आया को देखकर बुरा लगता है और क्या ?"

गए सालों की कई रातें उसे याद आईं जब माली लड़खड़ाता हुआ रात को घुसता था और उनके कमरे के पिछवाड़े क्वार्टर में मारपीट, रोना-गाना चालू हो जाता था। बच्चों की पिल्ल-पिल्न, आया की तीखी-भर्राई आवाजें, माली की लटपटाती गालियां। 'स्साल्ली सुअर की तरह साल में छै जनती है···' फिर मा या बाप में से किसी एक को बाहर ढकेलकर अपेक्षाकृत स्याने बच्चे घर दुबक जाते। तब बिल्लो और उसको गालियों की संख्या टटकी नवीनता पर बहुत हंसी आती थी पर अब वे शायद टटकी लगती न मज़ेदार। खासकर जब सुबह बावर्चीखाने के पीछे बिसूरती भूखी-प्यासी रत्ती का मुंह याद आता है। बहुत गऊ, बहुत भली लड़की थी। पहले-पहल जब वे आते थे तो इत्ती-सी थी, तुतलाती हुई—नाम क्या है—लत्ती-लामलत्ती। सलाम कहो—तलाम। उनके घर के वे कसैले-कंटीले झगड़े उसीकी अबोध ज़िद पर आकर बिखरते थे। उसके सीधेपन से माली भी दबता था। तर्रार बीवी के आगे उसकी जीभ पर जो सान चढ़ती वह बेटी के चुप्पे क्रोध के सामने भोंथरी पड़ जाती। "ले साली, धो आया हात-मूं। कुल्ला भी कर लिया। दे अब रोटी।"

"रत्ती खुश है ?"

मां धुले कपड़ों को ड्राअर मे रख रही थी। वह पलंग पर बैठ गई।

"ठीक ही है। आदमी काफी तेज स्वभाव का है। किसी और से भी दोस्ती थी शायद।"

"फिर ?"

"फिर क्या, पिट-पिटाकर कभी रोती हुई आ जाती है फिर समझा-कर मैं ही भेज देती हूं। मां से तो उसकी पटती नहीं। वैसे लड़का कमाता

ठीक-ठाक से है, सास भी कमाती है। अक्सर तो वही लगा-बुझा देती है। अब इन लोगों में तो यह चलता ही है। कौन कहां तक समझाए।" मां ने दराज़ बन्द करके बुनाई उठा ली।

"आया छोड़ क्यों नहीं देती माली को ?" मां फन्दे गिनती हुई हंस पड़ीं। "पागल है तू भी। इस सारी पलटन को लेकर कहां जाएगी ?"

"कहां क्या, तुम माली को हटा दो, उसे रहने दो क्वार्टर में।"

"फिर माली का काम कौन देखेगा ? अभी चारेक महीने में हम लोग नीचे चले जाएंगे तो कोठी की चौकीदारी कौन करेगा ? वैसे भी अकेली औरत का यहां रहना ठीक नहीं। दस तरह की बातें हो सकती हैं। एक और आफत उठ खड़ी होगी।"

थोड़ी देर चुप्पी रही।

कोहरा छंट रहा था। ऊपर जहां-जहां बादल फट गए थे, आसमान झक्क नीला था, इतना कि देखने से आंखों में पानी आ जाए। धूप के धब्बे नमी की पर्तों से टकराकर इस्पात से चमक रहे थे, जहां-तहां। उसने मां की ओर प्रश्न-भरी आंखें फिराईं। "तुम्हें बाज़ार का कोई काम है ?"

मां ने सलाई बदल ली। "छोटे-मोटे काम तो हैं कुछ। मैं ज़रा यह बांह घटा लूं तब चलते हैं।"

मुख्य बाज़ार से पहले सड़क के दोनों ओर आ बैठी उन छोटी-छोटी अस्थायी, पर चमकीली दुकानों में अधिकतर सामान ग़ैर-ज़रूरी था, कम से कम मैदानी मौसम के लिहाज़ से। पर हर साल सैलानी लोग महा-उत्साह से यही सब समेट-समेटकर ले जाते थे। रंगीन फुंदनेदार टोपियां, जालीदार पतले शाल जिनसे जाड़ा कतई न कट पाए, पीतल के भोंडे सजावट के सामान, नकली मनके, कच्ची मालाएं। पर शायद सैलानियों की खरीदारी इस लिहाज़ से होती भी नहीं। ये सब यादों के साथ जीम की झुरझुरी पत्तियों और नैप्थलीन की कड़वी-मीठी गंध में चापकर धरते जाने की चीज़ें हैं। तस्वीरों के इन पैकटों की तरह, जिनमें फूटी पड़ती

अपनी अजीब बचकानी खुशी बाद में आप खुद नहीं पहचान पाते। वे पुराने बाजार में आ गए थे। मां को यहां तकरीबन सभी पुराने दुकानदार जानते थे और कुछ असमंजस के बाद उसे भी चीन्ह लिया गया था। उनकी अपेक्षाहीन आत्मीयता उसे भली लगी। मां ने कई दुकानों से छोटी-मोटी चीजें लीं। बटन, सुइयों का पैकेट, पतली-मोटी सलाइयां, खास तरह की तीखे स्वाद वाली वह पीली पनीर जो उसे पसन्द थी, एक फ्रूट केक, मोमबत्तियां।

"इतना सब किसके लिए ले रही हो? तुम और पापा तो यह सब बाजार का खाते नहीं।"

"तेरे लिए और किसके लिए?"

"मैं कोई दानव हूं क्या?" मां हंस दीं। "अरे चार दिन को तो तुम लोग आती हो, उतनी सर्दी में तो क्या ही खा पाती होगी।" उन्होंने एक पुड़िया उसके आगे बढ़ा दी, एकदम उसी ममता से जैसे बचपन में करती थीं। उसके गले में कुछ किरकिरा-सा बंध गया। पुड़िया में पिपरमिंट के स्वाद वाली वे धारीदार तिकोनी मीठी गोलियां थीं जो छुट्टियों में हर बार वे लोग अपने लिए इसी दुकान से खरीदते थे। उसने एक गोली मुंह में डाल ली, पिपरमिंट का मीठा-ठण्डा स्वाद तालू पर घुलने-सा लगा। यहां रहते हुए यह अहसास और भी गहराता जाता है कि मां-पापा का जीवन साल-दर-साल उन लोगों से सम्बद्ध सूत्रों के कितने इर्द-गिर्द सिमटता चला जा रहा है। उन लोगों की हर चीज को लेकर वे लोग एक स्निग्ध तन्मयता से भरे दिन के दिन गुजार सकते थे, जोगियों की तरह। बिल्लो की चिट्ठी आई तो खोलने से पहले दोनों ने ढूंढकर अपने पढ़ने के चश्मे निकाले-लगाए, फिर बड़ी एहतियात से वह कागजी लिफाफा एक खास छुरी से खोला गया। अक्सर बिल्लो मार्जिन पर लिख देती है, कहीं कोई वाक्य गलती से फट न जाए। फिर बारी-बारी से दोनों उसे दिन-भर पढ़ते-सुनते रहे। वह बिल्लो को जानती है। चलते-फिरते, बिना किसी खास संवेदना के भी वह चार पन्ने का भावभीना खत तुरत लिख डालती

है। और वह ? वह तो अक्सर लिखती ही नहीं, लिख-लिखकर फाड़ती रहती है या पेन टकोरती बाहर ताकती रहती है, शायद इस इंतजार में कि अभी कुछ होगा जिसकी आड़ लेकर यह काम कल पर ही छोड़ दिया जा सकेगा। मां-पापा की तन्मय एकाग्रता और उनकी मूक जिज्ञासा उसे हर बार लौटने पर और भी ज़्यादा सालती है। कैसी अजीब बात है कि अपनी जवानी में जब मां-बाप अपनी निजी ज़िन्दगी को गहराई से जीना चाहते हैं तो बच्चों की उपस्थिति उस तीव्रता को कुन्द कर जाती है, और बाद को जब तक वे अपनी ज़िन्दगी के समतल पठार पर पहुंचकर बच्चों के जीवन के उतार-चढ़ाव बांटने को उत्सुक हों, बच्चे अपने निजी चेतना-तन्तु उस साझे के दायरे से समेट चुके होते हैं। अजीब बात है, पर इतनी व्यापक होते हुए भी हर बार नये सिरे से दुःख देती है, नहीं ?

"फल ले लें कुछ ?" मां ने फल वाले की ओर इशारा किया। वह उत्सुकता से ताक रहा था।

"बिल्लो के बच्चे तो बस फलों पर ही जीते हैं यहां आकर। अब वहां की आदत से और तो हमारा खाना उन्हें रुचता नहीं, पर ताज़े फल जितने कहो।" स्मृतियों के मीठे गुबार से घिरी मां मुस्कराने लगीं। "वह तो बस मोड़ पर आए नहीं कि हाथ खींचकर यहां ले आते हैं। छोटी तो अक्सर बिना धोए ही गप से खाना चालू कर देती है, लाख मना करो…"

"बच्चे नईं आए इस साल मेम साब ?" फल वाले ने तराजू संभाली।

"इस बार वहीं छुट्टी बिता रहे हैं, बाद को आएं शायद।" मां का स्वर अनाश्वस्त था, वे स्मृति-दंश से फिर बुझ-सी गई थीं।

"बाबा तो खुमानी के सौकीन थे, बेबी को पलम।"

"हां, बस यही तो खाते रहते थे। देखो शायद, सितम्बर में आ जाएं, क्या पता ? तब सेब खिलाना।" मां प्रयास से छलावों की मरीचिका रच रही थीं, फल वाले से ज्यादा खुद अपने लिए। उसने होंठ काट लिया और परे ताकने लगी।

तभी उन लोगों पर निगाह पड़ी। कुछ देर पहचानने की कोशिश

करती रही। फिर आगे बढ़ गई। सामान, शॉल, कोट, स्वेटरों और टोपियों से लदा-फदा वासु का परिवार ही था—सैलानी भेस में। उसकी पत्नी से आंखें मिलीं तो वह पहचान में किलक पड़ी। वह पास गई।

"अरे मिस्टर वासु, मैं तो आप लोगों को पहचानी ही नहीं। इस सबके साथ···"। उसने उनकी वेशभूषा की ओर इशारा किया। मां पास आ गई थीं। "मां, ये मिस्टर वासु हैं। उदय के साथ काम करते हैं, मेरी मां।"

"मिस्टर मैरूप को हाम बोला था कि इधर आने को है, अगर आप चलें तो अच्छा, पर वो बोला की अभी नहीं जाएंगे। आपको शायद पूछा भी नहीं होगा ·····" वे पुलककर हंसे, मर्द जात के पाजीपन के उन्मुक्त समर्थन में।

"नहीं, पूछा तो था, पर तब मैंने पक्का नहीं सोचा था।" यह उदय के ऊपर से उस नामालूम-से आक्षेप को हटाने की कोशिश थी क्या?

"यहां ठण्डा बोउत जास्ती। बाऽऽबा।" मिसेज वासु ने शाल कसकर लपेट लिया। "हाम तो मीस्टर को बोला की यहां शीत से तो वहां का गोर्मी अच्छा।" उनकी नाक जुकाम से लाल थी।

"कब तक हैं आप लोग यहां?" उसने प्रश्नसूचक नजर दोनों पर डाली।

"काल-पोरशू तक है। मसूंडे जाएगा। आप तो अभी आया है वर्ना साथ-साथ चल सकता था। हाम बाय रोड जाएगा।"

"अच्छा तो अब चलें, फिर मिलेंगे। आप लोग यहां टिके हैं?"

उन्होंने एक होटल का नाम लिया। "वो तो कोम्पनी भैकेशन, का अलाउन्स अलग दिया तो सोचा की इनको इधर का पहाड़ दिखा दें।" बच्चा फिर मिनका। वे शिष्टतापूर्वक अलग हुए।

रमला के यहां पहुंचते ही खाने का दौर शुरू हो गया। पहले छोटे-छोटे चांदी के गिलासों में कोई स्वास्थ्य की दृष्टि से मुफीद, पर जरूरत से ज्यादा मीठा और सुगंधित शर्बत आया, फिर कांजी के बड़े गिलास,

फिर छोटी-छोटी चीज़ों का अनवरत तांता।

"इतना अभी से खालें तो खाना क्या खाया जाएगा ?"

"ये लो, इसी उमर से यह हाल है !" रमला की चाची ने कचर-कचर भजिया चबाते हुए कहा। ख़ुद बीजी चर्बी का एक विराट पहाड़ थीं जिसमें शरीर के कटाव मांस की पर्तों में कब से विला चुके थे। खमीरी चपाती-सी छातियों पर बढ़िया चुना हुआ मलमल का दुपट्टा पड़ा था, कानों में हीरे की वालियां। उनके हाथ और पांव शरीर के अनुपात में इतने नन्हें लगते थे मानो किसी और के शरीर से लेकर जोड़े गए हों। "अभी तो बेटा जी, तुम्हारी खाने-खेलने की उमर है, अभी का खाया-पिया सदा संग रहेगा, समझी ? हमने तो रमला को भी बचपन से असली चीज़ों पर ही पाला। पर जब से इस्कूल गई छुट्टियों में घर आती थी तो ऐसी कांटा कि तुम्हारी विलायती संतनियों ने सारा सत्त खैंच लिया हो जैसे। इसके पापा को तो मैंने बीयर की बोतलों में दूध पिलाया है बेटा। छोटी बोतल से मेरे काके का पेट ही नहीं भरता था।" बेटे का बचपन याद कर वे आनन्दित होकर हंसने लगीं। "अब मेरा डाक्टर कहता है कि तुसी चर्बी घटाओ, वर्ना दिल कमज़ोर हो जाएगा। मैंने कहा जी, यह, चर्बी आपके तेल-डालडे की नहीं मेवे-मलाई की है, इससे तो दिल होर मज़बूत होएगा जी।" तभी आया के हाथों से गुलेल का पत्थर-सा छूटा वह बच्चा कमरे में घुस आया। रमला का लड़का भी पारिवारिक परम्परा को बरकरार रखे था। मोटा-सा गोरा गदबदा बच्चा। कमरे में आते ही उसने सबको धकिया कर प्लेटों से दोनों मुट्ठियां भर ली थीं, पर उसकी अभद्र हरकतों को रोकने के बजाय घर वाले उसकी उच्छृंखला पर निहाल हुए जा रहे थे। एकाध बार रमला ने हल्के से धमकाया तो उसने दबंगपने से ज़ुबान चिढ़ा दी।

"मरद बच्चा है नी, करने दे मन की। अपने मामे पर गया है। सतिंदर कोई कम था ?" मरद बच्चे ने एक तिपाई उलटी, दो-चार प्लेटें गिराईं, घी-सने हाथ अपनी मां की साड़ी में पोंछे और फिर किसी छोटी-

सी चीज़ के लिए फ़र्श पर मज़े से एड़ियां रगड़ता हुआ अमानवीय चीत्कारों से घर को कंपाने लगा। रजनी का मन कर रहा था कि वहीं उठकर उसे पकड़कर बाहर धकेल दे। बिगाड़ने की भी हद होती है! मर्द बच्चा न हुआ काशी का सांड़ हो गया। शायद जो आज़ादी उन्हें ख़ुद कभी नहीं मिली उसे दुगुनी कर अपने बेटों को बांटने में कुछ औरतों को एक गूढ़ तृप्ति होती है, जो उतनी ही अतार्किक है जितना बेटा जनकर अपनी नस्ल से बेहतर जीव पैदा करने का उनका गर्व!

अन्ततः एक आया नमूदार हुई और घोर-अभ्यस्त हाथों से हैलीकाप्टर के चक्के की तेज़ी से घूमते उस मर्द बच्चे को बाहर उठा ले गई। बैरे ने आकर तहज़ीब-भरे हाव-भाव से जतलाया कि खाना लग गया था। बोलती-बोलती वे उठ खड़ी हुईं।

बाज़ार की हर उपलब्ध सब्ज़ी शायद उस मेज़ पर सजी थी। साथ में तरह-तरह के सालन और अचार। तौबा! कैसे लोग रोज़ इतना खाना देख भी पाते होंगे, नहीं? खा-पीकर वे फिर गोल कमरे में आ बैठीं। अब एक बोझिल तंद्रिलता-सी छा गई थी, जैसे सब कल्पना में जुगाली कर रही हों। सप्रयास कुछ हल्के-फुल्के प्रसंग उठाकर छोड़ दिए गए जो हवा में चकराकर झड़ती पत्तियों की तरह धीरे-धीरे ख़ुद-बख़ुद बैठ भी गए थे। "चलें?" उसने शिष्टता से जमुहाई रोक मां से पूछा "चलो।"

सड़क पर चलते हुए उसने छुटकारे की सांस ली "उफ्। कुछ ज़्यादा ही हो गया, नहीं?" मां ने सीने पर हाथ रखा। "घर जाकर कुछ दवा लेनी होगी, वर्ना गला जलने लगेगा। मेरी तो मसालेदार खाने की आदत ही नहीं।"

मां आराम करने चली गई थीं। वह बाहर कुर्सी छांव में खींचकर बैठ गई। तिपाई पर मां की मंगाई कोई विदेशी महिला-पत्रिका पड़ी थी। वह पन्ने पलटने लगी। वही आयासहीन ढंग से पतली होने की तरकीबें, पति को कैसे रिझाएं, झुर्रियां कैसे छिपाएं, बच्चों को कैसे ख़ुश रखें? धत्। उसने मैगज़ीन वापस रख दी। औरतों की पत्रिकाएं हर देश में एक

सी होती हैं। चाहे वे सफेद हों या भूरी या काली चमड़ी वाली। वही अपने चेहरे को लेकर नाखुशी, शारीरिक गठन को लेकर असंतोष, हम-जोलियों, बच्चों, पतियों को लेकर अनगिन शंकाएं-चिन्ताएं, जैसे कि पूरी औरत जात इस हीनता और आक्रोश के परे कुछ हो ही नहीं। उसने तिपाई पर टांगें रखकर आंखें बन्द कर लीं। तो इसके परे सच क्या है फिर? इस सारे आक्रोश और भय के पीछे कहीं कोई स्थिर बिन्दु तो होगा जिससे जुड़कर वह इस सबके ऊपर उठ सकती हो। या इससे निकलने की कल्पना करना बेवकूफी ही होगी? पर फिर चालू सामाजिकता के संदर्भ में वह क्या रोल चुन सकती है अपने लिए? यही न किया तो बिल्लो जैसी लड़कियों की तरह भरसक बौद्धिकता का आवरण ओढ़कर परिवार के बंधनों के परे एक ऊंची गद्दी खोजे, या फिर रमला की तरह एकाध बेटा जनकर मर्दों की उस चमकीली इस्पाती दुनिया में परोक्ष रूप से घुस-पैठ कर मातृकला में लीन हो जाए। छिः!

उसने पैर तिपाई से हटा लिए और उठ खड़ी हुई। वह कितनी ही दूर भागे, निर्णय उसे लेना ही होगा—अभी तक अपने बारे में किए जाते उन सब सुव्यवस्थित-समझदार घरेलू निर्णयों के परे, जो गर्म खाने की रकाबी की तरह हमेशा उसके आगे परोस दिए गए हैं। वह या तो बहुत अपरिपक्व रही होगी या फिर बहुत ही बेवकूफ, जो यह समझती रही थी कि इस सबपर उसका कुदरती हक है। नहीं है! किसी भी चीज़ पर किसीका हक नहीं है। यहां हर चीज़ का मोल चुकाना पड़ता है। उसे भी तो चुकाना पड़ा था, नहीं? उस अपेक्षाहीन भक्ति की दासता, उस दमघोंट मर्यादा से भरे अपने कल्पनाहीन-घटनाहीन बचपन के रूप में, जिसमें कहीं भी कुछ भी ऐसा नहीं था जिसपर टिप्प से उंगली रखकर वह यह कह सके कि हां यह मैं हूं, यह मेरा है—एकदम।

८

उसने फोन उठाकर ऑपरेटर से नम्बर मांगा। वासु साहब को आने में कुछ देरी हुई। कहीं चले तो नहीं गए और भी जल्दी? उसे श्रीमती वासु की जुकाम से लाल शक्ल याद आई।

"हल्लो।" परिचित स्वर सुनकर वह आश्वस्त हुई।

"हलो, हां, मैं रजनी बोल रही हूं मिस्टर वासु।"

"हाल्लो, हाल्लो, कैसा है आप?"

"ठीक हूं, आप सब?"

"ठीक है, मिसेज को सर्दी-खांसी हो गया सो वो तो लेटा है, हम बाच्चों को ले जा रहा था, तो पीकनीक को चलेगा आप?"

"आज तो मुश्किल होगी।" उसने फंसता गला खंखारा, "दरअसल मैंने यह पूछने को फोन किया था कि आपकी गाड़ी में मेरे लिए अभी भी जगह होगी क्या? अगर होगी तो मैं भी आपके साथ बृहस्पति को जाना चाहती हूं।"

"जरूर, जरूर। विद प्लेजर। पर आप तो अब्बी-अब्बी आया है, नईं?"

"हां, दरअसल कुछ काम भी है वहां।"

समय-स्थान निश्चित कर उसने फोन रख दिया और सोचने लगी कि मां-पापा को कैसे बताएगी।

...

मां को तो प्रत्याशित रूप से रोना आ गया। "सोचा था अभी कुछ दिन तो रहेगी ही। साल में एक बार तो भेजते हैं, फिर आते ही से बुला लियां।" उसने हल्का प्रतिवाद किया कि उसने खुद ही निश्चय लिया था, उदय को तो अभी खबर भी न होगी। मां आश्वस्त नहीं हुई, सिर्फ उठकर चली गईं।

पापा कुछ देर खिड़की के पास खड़े रहे। "तुम उकता गई होगी, इस वार विल्लो-नरेश भी नहीं हैं, हमारा साथ कब तक…"

वह गुस्से या आंसुओं को झेलने को तैयार थी पर इस उदास आत्म-भर्त्सना को नहीं। उसके भीतर शर्म से कुछ ऐंठ-सा गया। पर कुछ हद तक यह सही तो था ही। वह कुछ देर चुप बैठी रही। मां भी फिर आकर बैठ गई। चुप्पी।

आया ने आकर झांका। "मेम साव चीनी! मां के जाने के बाद वह उठकर अपने कमरे में आ बैठी, सामने का दरवाजा बन्द हुआ। पापा छड़ी लेकर घूमने को निकल गए थे शायद। उसने आलमारी खोलकर कपड़ों की एक ढेरी निकाल ली और तहाने लगी। टप से एक आंसू स्वेटर की पर्त में गिरा। फिर उसने तहाकर सूटकेस में डाल दिया। अपने प्यार का चाबुक सड़काते हुए सब कोई उसे एकदम पालतू बना देना चाहते हैं। उसीकी भावनाओं से उसे ही ब्लैक मेल…। उसने तीन-चार साड़ियां यूं ही उठाकर सूटकेस में पटक दीं। पूरी शाम एक हल्का-सा तनाव व्याप्त रहा। न उन लोगों ने उसके जाने के बारे में कुछ और बात की, न उसने। उस रात सब जल्दी ही सो गए या अपने-अपने कमरों की बत्तियां गुलकर जा लेटे थे।

शायद मां-पापा का कहना ही सही है कि उनकी पूरी की पूरी पीढ़ी ही आत्म-केन्द्रित और स्वार्थी है। आखिर अपने बच्चों के अलावा और है ही कौन उनका? सीमित-सा परिवार यूं ही था। रिश्तेदारियां मात्र औपचारिक थीं। कितने उत्साह से उन्होंने योजना बनाई होगी, अगल-बगल दो-दो काटेज खरीदकर उन्हें उसमें बसाने की? और अपने ठण्डे-पन और उदासीनता से उन्होंने उसपर पानी फेर दिया। पर सिर्फ अदब या डर से उस पूरे प्लान को स्वीकार कर लेना फिर से उसी जीवन को ओढ़ लेना न होगा जिसकी घुटन-भरी सीमाओं से वह उन तपते-बौराते अंधड़ों के बीच भागी जा रही है?

बाहर खूब अंधेरा था। कहीं झींगुर बोल रहे थे। बाकी सब शांत

था, सिवा कभी किसी रात-पक्षी के आकस्मिक आर्तनाद के। सबके परे नालों में निरन्तर बहे जाते पानी की मद संगीतमय कलकल। घर अंधेरे में एकदम वैसा ही हो आया था, जैसा कि सोलह साल पहले था उसके लिए। चौकन्ना, आतुर, मजेदार-मीठे भेदों से भरा हुआ। वह आंखें बन्द करके भी इसे अपने चेतना के अवयवों से नाप सकती है, सारे कोनों, असमतल सीढ़ियों, छेदों समेत। उसके हाथों को हर चिटखन, हर दरवाज़े के हैण्डिल का स्पर्श, खुलने का ढंग तक याद है—हर कमरे की खुशबू, हर गलियारे की गंध। उहूंक, उसका वजूद और किसी भी घर में कभी इस सुरक्षित नर्माई के साथ फिट नहीं हो पाएगा। वह बिस्तरे में घुस गई और लिहाफ ओढ़ लिया।

सुबह मां की आंखें कुछ सूजी थीं, अभी भी। पर पापा ने बड़ी सफाई से उसके निर्णय से समझौता कर लिया था। "मैं तार करवाने माली को भेज रहा हूं, कै बजे पहुंचने का लिखूं? रास्ता तो सात घण्टे का ही है पर बच्चों का साथ है।"

"क्या जरूरत है? वामू का घर पास में ही है, दरवाज़े पर छोड़ देंगे, उदय नहीं भी हुआ तो गोपालसिंह तो होगा ही।"

पापा ने चश्मा नाक पर तनिक नीचे सरकाकर उसे पुरमजाक नज़र से देखा जैसे बचपन में उसकी शिकायत आने पर देखते थे। झूठे गुस्से से अपनी पतली नाक सिकोड़ते, भंवों पर हंसते बल डाले। "तुम अपने मन की करो बेटा, हम अपनी करेंगे। खबर देना तो हमारा फर्ज है। उसे हमपर छोड़ दो।"

मां फिर खाने की चीजों की फेहरिस्त बनाने में व्यस्त हो गई थीं "पूरी-आलू तो गर्मी में टिकेंगे नहीं, सैण्डविच बनवा देती हूं। एकाध पैकेट बिस्किट के रख दूंगी, उनके बच्चों को भी हो जाएगा। तेरा फ्रूट-केक-पनीर भी लपेटकर रखवा दूंगी, खाया ही नहीं तूने। आया, देखना जरा भण्डार में कोई पुरानी टोकरी हो तो।" वे बाहर चली गईं।

"अच्छा फिर।" आखिरी बार हाथ हिले। कार चल पड़ी। मां ने धूप का चश्मा चढ़ा लिया था, पापा ने एक सयत्न मुस्कान।

"अच्छा बेटे, उदय से कहना, पहुंचकर तार तुरत भेज देगा वरना मां को फिकर होगी।"

वह मोड़ तक मुड़-मुड़कर हाथ हिलाती रही। फिर वे पीछे छूट गए। उसने पर्स खोलकर पेपरमिंट की तिकोनी गोलियों का पैकेट निकाल लिया और बच्चों की ओर बढ़ाया। "लो, मुंह ताजा हो जाएगा।"

बच्चों ने संशक दृष्टि से मां की मूक आज्ञा ली, जब उन्होंने कहा कि ले लो तो उन्होंने ले लिए।

"क्या कहते हाय, एँ?" वासु साहब ने तनिक सिर फिराकर पूछा, स्वर में हल्की धमकी भी थी।

"थैंक्यू आण्टी।" वे एक स्वर में गुनगुनाए।

बातचीत की संभावना और भी बुझ गई थी। आगे बैठी श्रीमती वासु ने जुकाम से लस्त आंखें खोलीं। "हमारा सिर एकदम भारी हो रहा है," वासु साहब ने पूछा, उन्होंने एस्पिरिन ली थी या नहीं, उन्होंने कहा कि ली थी। फिर वे भी चुप हो गईं। बच्चे निरुत्सुक-से बाहर तक रहे थे। कभी क्षण-भर को किसी चटक रंग या आकार को देखकर उनका चेहरा भक्क-से उजला होता, फिर बुझ जाता। बीच-बीच में वे सशंक छिपी निगाहों से उसे तोल लेते पर जब तक वह कहने लायक कुछ सोच पाती, वे बाहर ताक रहे होते। फिर रास्ते के घुमाव बढ़ गए थे और बच्चों को मितली आने लगी थी। गाड़ी रोक ली गई और उसे आगे बिठाकर श्रीमती वासु पीछे बच्चों के साथ स्थापित हो गईं—अधखिचड़ी जुकाम-भरी भाषा में रास्ते की अनगढ़ दशा पर चिन्ता व्यक्त करती हुईं।

अब सबको नींद-सी आ रही थी। सिर्फ वासु साहब कुछ ज्यादा ही तेज स्वर में थोड़ी देर तक बच्चों को जबरन हंसाने की कुचेष्टाएं करते रहे। फिर वे भी चुप हो गए। गर्मी-भरे मैदान पास आ रहे थे, हरियाली बिलाने लगी थी। जैसे-जैसे समतल भूमि पास आती जा रही

थी, बच्चे उत्सुकता से फूलने लगे। "देखो मा घोड़ागाड़ी ! रेल !" हफ्ते-भर मे ही वे परिचित दृश्यों के लिए अधीर हो चले थे। शायद फिर थोडी देर बाद वह दौर भी बोझिल ऊंघती चुप्पी मे घुल गया। अब गाड़ी फिर एक बार रोकी गई। एक पेट्रोल पम्प के साथ सटे घूलिहा बाथरूम मे सबने हाथ-मुह धोए। टोपे-स्वेटर, मोजे सब डिकी मे रख दिए गए। बच्चों ने कुछ खाया-पिया। फिर वे चल पड़े। गर्मी अब पूरे वेग से आ चिपटी थी। उसने शीशा चढ़ा लिया। पानी ! पानी ! पानी ! हर पाच मिनट में बच्चे पानी माग रहे थे। पीछे रखा खाना,गद्दियों के रेक्सीन, पसीने की भपही गंध —सबकी मिली-जुली गध से एक असाध्य दमघोंट भभक-सी उठने लगी। मैदानी इलाका शुरू हो गया था। उसने अपनी उतावली इन्द्रियो को जंगली जानवरों की तरह आसन्न खतरे की अपेक्षा मे चौकन्ना होते पाया। ताप अब उनके चारो ओर आ बैठा था। अपरिहार्य।

बाबू साहब भीतर नही आए। उनके बच्चे और पत्नी भी काफी थक चुके थे। फिर कभी। सामान उतरवाकर वे जल्दी से पलट गए। गोपाल-सिंह ने हाथ जोड़े और सूटकेस उठा लिया। सामान लिए वे तीनों भीतर की सीढ़िया चढ़ने लगे। कही कोई उत्तेजना या हड़बोंग नही। जैसे यह रोज ही होता हो। उसने पाया कि वह कुछ रही है। पर क्यो ? क्या वह स्वागत में किसी रोमांचक नाटकीयता की आस लगाए थी। पर क्या वह उसे अच्छा लगता ? सच मे सोचा तो… ।

वे भीतर आ गए थे। सब वैसा ही था जैसा कि हुआ करता था। शांत-स्थिर-साफ कमरे की परिचित आत्मीयता उसे भली लगी। उसने सिर झटकारकर बाल ढीले किए और बैठ गई। गोपालसिंह रसोई में कुछ खटर-पटर कर रहा था। शायद चाय-वाय का कुछ। उसे उत्सुकता नहीं हुई। वह आज कुछ क्षण मेहमान ही बनी रहना चाहती थी। असम्पृक्त।

"कैसा रहा ?" उदय उसके पास आ बैठा।

"ठीक, तुम्हारा ?"

"बऽस, यूं ही। नहा लो, गोपालसिंह चाय ला रहा है। ताजा हो जाओगी।"

"जरूरी है क्या ?" उसका स्वर कुछ तना।

"जरूरी तो कुछ भी नहीं। जैसा तुम चाहो।" उदय के स्वर की क्षणिक आत्मीयता वापस लौट गई थी।

कमरे में अब चुप्पी थी, और वे दोनों आज फिर से अकेले एक-दूसरे के सामने आ बैठे थे—जुझारू योद्धाओं की तरह तैयार, अपने सशंक हथियार मांजते हुए।

•••